अथ द्वितीयोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि-बर्हि-स्रुक्

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ १॥

१. **कृष्णः असि**=तू आकर्षक जीवनवाला है। पिछले अध्याय में कहा था कि 'तू खुली वायु और धूप' के सेवन से पूर्ण स्वस्थ है। तेजस्वी, क्रियाशील, नीरोग, शक्तिशाली परन्तु नम्र, देवताओं का प्रिय और अविच्छिन्न अग्निहोत्री है। वस्तुतः ऐसा जीवन ही जीवन है। ऐसे जीवनवाला सबको अपनी ओर आकृष्ट करेगा ही। २. **आखरेष्ठः**=(आ+ख+र+स्थ) समन्तात् विद्यमान—आकाश में गति व प्राप्तिवाले प्रभु में तू स्थित है। वस्तुतः सर्वव्यापक प्रभु में स्थित होने से ही इसका जीवन सुन्दर बनता है। ३. **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले—प्रभु का तन्मयता से उपासन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=(प्र+उक्षामि) आनन्द से सिक्त करता हूँ। प्रभु के उपासक का जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु में स्थिति के विषय में गीता में कहा है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिँस्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।** जिसे प्राप्त करके उससे अधिक कोई लाभ प्रतीत नहीं होता और जिसमें स्थित हुआ-हुआ बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता। ४. प्रभु की प्राप्ति से इसे सब-कुछ प्राप्त हो जाता है (सर्वं विन्दति)। सब-कुछ प्राप्त कर लेने से तू **वेदिः**=(विद् लाभे) लब्धा **असि**=है। ५. इस प्रभु-प्राप्ति के लिए ही **बर्हिषे**=वासना-शून्य हृदय के लिए (उद् बृह्=उखाड़ देना) जिस हृदय में से सब वासनाएँ नष्ट कर दी गई हैं, उस हृदय को **जुष्टाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=आनन्दसिक्त करता हूँ। जो व्यक्ति हृदय को पवित्र बनाने में लगा है, वह उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखने से एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। ६. निरन्तर पवित्रता के प्रयत्न में लगा हुआ तू **बर्हिः**=वासना-शून्य हृदयवाला **असि**=बना है और अब जैसे चम्मच से अग्नि में घृत अर्पित किया जाता है, उसी प्रकार तू प्रजाओं में अपनी वाणी से ज्ञान का स्रवण करनेवाला बना है। इन **स्रुग्भ्यः**=ज्ञान प्रस्रवण की क्रियाओं में **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक लगे हुए **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं आनन्दसिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हमारा जीवन तीन बातों में व्यतीत हो—हमारे मुख्य ध्येय ये तीन हों—१. **अग्नये**—प्रकाशमय अग्निनामक प्रभु की उपासना, २. हृदय में से वासनाओं को उखाड़ फेंकना (बर्हिषि) और ३. ज्ञान का प्रसार करना—प्रजारूप अग्नि में ज्ञानरूप घृत का प्रस्रवण करनेवाले चम्मच बनना। ये तीन बातें हमारे जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली होंगी।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णोः स्तुपोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहा॥ २॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्रुग्भ्यः जुष्टम्' प्रजारूप अग्नि में ज्ञानस्रवण के कार्य में प्रीतिपूर्वक लगे हुए व्यक्ति के उल्लेख के साथ हुई है। 'यह व्यक्ति इस ज्ञानस्रवण=ज्ञान-प्रसार के कार्य में क्यों लगा है?' इस प्रश्न के उत्तर से प्रस्तुत मन्त्र का आरम्भ होता है। २. **अदित्यै**='स्वास्थ्य' के लिए अथवा 'अदीना देवमाता' के लिए, अर्थात् लोगों को 'स्वस्थ, अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनाने के लिए **व्युन्दनम्**=तू विशेषरूप से ज्ञान-जल से क्लिन्न (गीला) करनेवाला **असि**=है। तेरे ज्ञान-प्रसार के परिणामस्वरूप लोगों के जीवन स्वस्थ बनते हैं, उनके मनों में अदीनता की भावना उत्पन्न होती है और उनके जीवनों में दैवी सम्पत्ति का आप्यायन होता है। ३. तू **विष्णोः**=यज्ञ का **स्तुपः**=शिखर **असि**=है। यज्ञमय जीवनवालों का तू मूर्धन्य है। तेरा जीवन निरन्तर लोकहित में लगा है। ४. **ऊर्णम्रदसम्**=औरों के दोषों का आच्छादन नकि उद्घोषणा करनेवाले (ऊर्ण्=आच्छादने) अत्यन्त मृदु स्वभाव-वाले, परिणामतः मधुर शब्द ही बोलनेवाले **त्वा**=तुझे मैं **स्तृणामि**=आच्छादित करता हूँ। जैसे छत सर्दी-गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, इसी प्रकार मैं तुझे आसुर आक्रमणों से सुरक्षित करता हूँ। प्रचारक को औरों के दोषों की उद्घोषणा न करते रहना चाहिए। उसे अत्यन्त मृदुता व मधुरता से ही अपना प्रचार-कार्य करना चाहिए। इस प्रचारक की रक्षा प्रभु करते हैं। ५. इस प्रकार **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्वासस्थाम्**=(सु+आस उपवेशन स्था) उत्तम आश्रय का स्थान तुझे बनाता हूँ। तुझमें दिव्य गुणों का आधान करता हूँ।

६. **भुवपतये**=(भुवो अवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्) चिन्तन व विचार के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है (सु+आह)। **भुवनपतये**=भुवनों-लोकपदार्थों के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। तू चिन्तन व विचार के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान का पति तो है ही, साथ ही तू ज्ञान के विषयभूत पदार्थों का भी पति है। तेरा ज्ञान केवल शास्त्रीय ज्ञान न होकर क्रियात्मक भी है। आगम व प्रयोग दोनों में निपुण होने से ही तेरी ज्ञान की वाणी लोगों पर विशेष प्रभाव रखती है। इस प्रकार **भूतानां पतये**=भूतों-प्राणियों की रक्षा करनेवाले तेरे लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्दों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार आवश्यक है। हम भुवपति=शास्त्र-ज्ञान-निपुण तथा भुवनपति=पदार्थ-प्रयोग-ज्ञान-निपुण बनकर भूतपति=प्राणियों के रक्षक बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्चीत्रिष्टुप्[उ], भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], पंङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—धैवतः[उ], पञ्चमः[क,र]॥

यजमानस्य परिधिः (प्रभुरूप केन्द्रवाला)

[उ]गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [क] इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [र] मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः॥ ३॥

१. पिछला मन्त्र 'भूतानां पतये' शब्द पर समाप्त हुआ था। मनुष्यों को अपने जीवन का लक्ष्य 'प्राणियों का रक्षक व पालक बनना', रखना चाहिए। जो व्यक्ति जीवन का यह ध्येय बनाता है, प्रभु उसकी रक्षा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि वह **गन्धर्वः**=(गां वेदवाचं धारयति) वेदवाणी का धारक **विश्वावसुः**=सबको निवास देनेवाला प्रभु **त्वा**=तेरा **परिदधातु**=

धारण करे। जो लोगों का धारण करता है, प्रभु उसका धारण करते हैं। प्रभु इसका धारण इसलिए करते हैं कि **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=सबकी अहिंसा के लिए यह प्रवृत्त हुआ है। लोककल्याण में प्रवृत्त मनुष्य की रक्षा के द्वारा प्रभु लोककल्याण करते हैं। यह यज्ञमय जीवनवाला व्यक्ति **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की **परिधिः असि**=परिधि (circumference) होता है, अर्थात् प्रभु इसके जीवन का केन्द्र होते हैं। इसकी सारी क्रियाएँ प्रभु के चारों ओर घूमती हैं। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते यह प्रभु को कभी भूलता नहीं। ३. **अग्निः**=प्रभु को केन्द्र बनाकर चलने से यह निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। इस अग्रगति के कारण यह 'अग्नि' है। ४. **इडः**=(इडा अस्य अस्ति) यह वेद-ज्ञानवाला होता है (इडा=A law) अथवा यह जीवन में एक नियमवाला होता है। इसका जीवन नियमित बन जाता है। ५. **ईडितः**=इसी कारण यह (ईड स्तुतौ) लोगों के द्वारा स्तुत होता है अथवा (ईडितमस्यास्तीति) यह अपने जीवन में प्रभु-स्तवनवाला होता है। ६. **इन्द्रस्य**= उस प्रभु का **दक्षिणः बाहुः असि**=यह दाहिना हाथ है, **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=लोक की अहिंसा के लिए प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं में यह उन क्रियाओं का माध्यम बनता है। **यजमानस्य**= सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की यह **परिधिः असि**=परिधि है, अर्थात् तेरी सब क्रियाओं के केन्द्र प्रभु होते हैं। **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला है, **इडः**=वेदवाणीवाला है, अथवा जीवन में एक नियमवाला है। **ईडितः**=तू स्तुत्य होता है अथवा तू निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। ७. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा स्नेह की देवता मित्र और द्वेष-निवारण की देवता वरुण **त्वा**=तुझे **उत्तरतः परिधत्ताम्**=उत्कृष्ट स्थिति में स्थापित करें। ये तेरी उन्नति का कारण बनें। तू **ध्रुवेण**=स्तुति-निन्दा से, जीवन व मरण से न विचलित होनेवाले **धर्मणा**=धर्म से **विश्वस्य**=लोक की **अरिष्ट्यै**=अहिंसा के लिए हो, अर्थात् तेरे स्थिर धारणात्मक कर्म लोक का कल्याण करनेवाले हों। ८. **यजमानस्य परिधिः असि**=उस प्रभु की तू परिधि बन, अर्थात् प्रभु तेरे केन्द्र हों। **अग्निः**=तू आगे बढ़नेवाला बन। **इडः**=नियमित जीवनवाला बन अथवा वेदज्ञान को अपनानेवाला हो, **ईडितः**=इस प्रकार तू स्तुतिवाला बन।

९. प्रस्तुत मन्त्र में 'विश्वस्यारिष्ट्यै' आदि मन्त्रभाग तीन बार आया है। इसका भाव यह है कि हमारे शरीर, मन व बुद्धि की सब क्रियाएँ लेकिहित के लिए हों। सभी क्रियाओं में हम प्रभु को केन्द्र जानकर चलें। हमारी 'जाग्रत्', स्वप्न व सुषुप्ति' अवस्था की स्थूल, सूक्ष्म व कारण-शरीरों से चलनेवाली क्रियाएँ लोकहित की साधक हों। हमारा ज्ञान और हमारी क्रिया व श्रद्धा सब लोकहित का साधन बनें।

भावार्थ—मैं इस योग्य बनूँ कि प्रभु मेरा धारण करें। मैं प्रभु का दाहिना हाथ बनूँ और प्राणापान अथवा प्रेम व अद्वेष मेरे उत्थान का कारण बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳसमिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ ४॥

गत मन्त्र की समाप्ति 'ईडितः' शब्द पर है, जिसका अर्थ है स्तुतिवाला। वही स्तुति प्रस्तुत मन्त्र में चलती है—हे **कवे**=(कौति सर्वा विद्याः, कु शब्दे) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले, **अग्ने**=सबकी उन्नति के साधक प्रभो! हम **अध्वरे**=अपने इस हिंसा व कुटिलताशून्य जीवन में (ध्वरः हिंसा व कुटिलता) **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=दीप्त करने का प्रयत्न करते

हैं, जो आप (क) **वीतिहोत्रम्**=(वीति=प्रकाश, होत्रा=वाक्) प्रकाशमय वाणीवाले हैं। आपकी यह वेदवाणी हमारे जीवन के अन्धकार को नष्ट करके उन्हें प्रकाशमय बनाती है, (ख) **द्युमन्तम्**= ज्योतिर्मय हैं। 'आदित्यवर्णम्' सूर्य के समान आपका वर्ण है। इस सूर्य के समान ही क्या? **दिवि सूर्यसहस्रस्य**=हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति के समान आपकी ज्योति है। वस्तुतः आपकी ज्योति से ही तो यह सब पिण्ड ज्योतिर्मय हो रहे हैं। **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**, (ग) **बृहन्तम्**=आप बृहत् हैं (बृहि वृद्धौ), सदा वर्धमान है। आप विशाल-से-विशाल हैं। सारे प्राणियों के आप निवास-स्थान हैं। सर्वत्र समरूप से आप अवस्थित हैं।

इस प्रकार आपका स्तवन करता हुआ मैं भी प्रकाशमय वाणीवाला (वीतिहोत्र) बनूँ। मेरी वाणी सदा लोगों के ज्ञान की वृद्धि का हेतु बने। मेरा जीवन प्रकाशमय हो (द्युमान्), मेरा हृदय विशाल हो। आपकी वेदवाणी का प्रसार करता हुआ मैं भी कवि बनूँ। निरन्तर उन्नति-पथ पर चलता हुआ और औरों को आगे ले-चलता हुआ मैं भी आपकी भाँति अग्नि बनूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे सामने इस ऊँचे लक्ष्य को रक्खे कि हम 'प्रकाशमय वाणीवाले, ज्योतिर्मय जीवनवाले और विशाल हृदय' बनें। हम आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' हों और विद्या का प्रकाश करनेवाले 'कवि' हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

देव-सदन

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै।
सवितुर्बाहू स्थऽऊर्ण्म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यऽआ
त्वा वसवो रुद्राऽआदित्याः सदन्तु॥५॥

१. गत मन्त्र में स्तोता ने प्रभु का स्तवन किया था कि हे प्रभो! आप द्युमान् हो। इस स्तोता ने इस द्युमान् प्रभु को अपने में समिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप यह स्वयं दीप्त हो उठा है। मन्त्र में कहते हैं कि **समित् असि**=हे स्तोतः! तू उस प्रभु को समिद्ध करता हुआ स्वयं समिद्ध हो उठा है—तू चमकनेवाला—दीप्त हो गया है। प्रभु-ध्यान के समय **पुरस्तात् सूर्यः**=सामने वर्त्तमान सूर्य **त्वा**=तुझे **कस्याश्चित्**=किसी भी **अभिशस्त्यै**=हिंसा से **पातु**=बचाए। हम प्रभु का ध्यान कर रहे हों और सामने उदित होता हुआ यह 'हिरण्यपाणि सवितादेव' अपनी किरणों से हमारे शरीरों में स्वर्ण के इञ्जैक्शन लगाता हुआ रोगकृमियों का संहार करे। २. इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि आप दोनों **सवितुः**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पादक प्रभु के **बाहू स्थः**=बाहु हो, अर्थात् पति-पत्नी दोनों को प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं का माध्यम बनना चाहिए। यही समझना चाहिए कि सब क्रियाएँ प्रभु ही कर रहे हैं, हम तो निमित्तमात्र हैं।

३. अब पति-पत्नी में पति के लिए कहते हैं कि **ऊर्ण्म्रदसम्**=(ऊर्ण आच्छादने) दूसरों के दोषों का आच्छादन करनेवाले नकि उद्घोषणा करनेवाले, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले **त्वा**=तुझे **स्तृणामि**=दिव्य गुणों से आच्छादित करता हूँ, जो व्यक्ति पापों की चर्चा न करके शुभ की चर्चा करता है, वह स्वयं भी दिव्य गुणोंवाला बनता है। ४. **देवेभ्यः स्वासस्थम्**=दिव्य गुणों के लिए उत्तम आश्रयस्थल (सु+आस+स्थ) **त्वा**=तुझे **वसवः, रुद्राः आदित्याः**=वसु,

रुद्र और आदित्य **सदन्तु**=अपने बैठने का स्थान बनाएँ, अर्थात् तू सब देवों का निवास-स्थान बन। जो व्यक्ति औरों के अवगुणों को देखता रहता है वह देवों का आश्रयस्थान न बन सब अशुभों का आगार बन जाता है। गुणों को देखनेवाला गुणों की खान बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करते हुए हम दीप्तिमय बनते हैं। दोषों को न देखते हुए हम गुणों के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], निचृत्त्रिष्टुप्[ख]। **स्वरः**—धैवतः॥

घृताची अथवा जुहू, उपभृत्, ध्रुवा

[क] घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद [ख] प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्॥ ६॥

पिछले मन्त्र के अन्त में पति के जीवन का चित्रण था। प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के जीवन का उल्लेख है—१. **घृताची असि**=तू घृताची है। घृत शब्द के दो अर्थ हैं—मल का क्षरण और दीप्ति। अञ्च के भी दो अर्थ हैं 'गति और पूजन'। मलावरोध से गति रुकती है। पत्नी घर में सब मलों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलाये रखती है, साथ ही ज्ञान की दीप्ति से प्रभु का पूजन करनेवाली होती है। ज्ञानी ही प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता है, अतः पत्नी ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। २. **नाम्ना जुहूः**=तू नाम से 'जुहू' है। 'हु दानादानयोः' दान व आदान करनेवाली है। घर में पति को कमाना है और सब लेन-देन, संग्रह व व्यय पत्नी को ही करना होता है। **अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्** (मनु०)। दूसरे शब्दों में घर की अर्थसचिव पत्नी होती है। हु धातु का अर्थ 'दानादनयोः' भी मिलता है। तब 'जुहू' शब्द की भावना यह होती है कि जो सबको देकर—खिलाकर पश्चात् यज्ञशिष्ट को खाती है। ३. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=तृप्ति देनेवाले तेज के साथ **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेम के वातावरणवाले घर में **आसीद**=आसीन हो। पत्नी को तेजस्वी होना है। उसका यह तेज उसे उग्र स्वभाव का न बना दे। उसे अपनी तेजस्विता से घर के सारे वातावरण को अत्यन्त कान्त बनाना है। घर एक प्रिय घर हो। घर में किसी प्रकार के कलह का वातावरण न हो।

४. **घृताची असि**=तू मलों व विघ्नों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलाने-वाली है और ज्ञान-यज्ञ से प्रभु का उपासन करनेवाली है। ५. **नाम्ना उपभृत्**=उपभृत् नाम-वाली है। सबको पालित व पोषित करनेवाली है। ६. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से युक्त हुई-हुई **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेमपूर्ण घर में **आसीद**=आसीन हो। ७. **घृताची असि**=तू मलों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली है और ज्ञान के द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाली है। ८. **नाम्ना ध्रुवा**=तू ध्रुवा नामवाली है। अन्तरिक्ष में ध्रुव तारे के समान तू पतिगृह में ध्रुव होकर रहनेवाली है, पतिगृह से डिगनेवाली नहीं है। वस्तुतः पत्नी को पिता के घर से आकर फिर पितृगृह में जाने का विचार ही नहीं करना चाहिए। उसे पतिगृह को ही अपना घर समझना चाहिए। उसे ही तो इस घर को बनाना है। ८. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से **इदं प्रियं सदः**=इस प्रिय लगनेवाले घर में **आसीद**=विराज। निश्चय से **प्रियेण धाम्ना**=अपने इस प्रिय तेज से **प्रियं सदः आसीद**=इस प्यारे घर में ही विराजमान

हो। दो बार कथन दृढ़ता प्रकट करने के लिए है।

१०. इस प्रकार पत्नी को 'शरीर, मन व बुद्धि' से घृताची बनना है। उसे त्रिविध तेज को प्राप्त करके घर की बड़ी उत्तम व्यवस्था करनी है। घर के सारे वातावरण को सुन्दर बनाना बहुत कुछ पत्नी का ही कर्त्तव्य है। उसे घर की व्यवस्था को प्रेम व तेज से ऐसा सुन्दर बनाना है कि घर में सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान में हों। यह घर **ऋतस्य**=सत्य का घर बन जाए। इसमें सब बातें ठीक (ऋत=right) ही हों। इस **ऋतस्य योनौ**=सुव्यवस्थित घर में घर के सब व्यक्ति **ध्रुवा असदन्**=ध्रुव होकर रहें।

११. इस उत्तम पत्नी को पाकर पति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **ताः पाहि**=आप इस 'ऋतयोनि' में निवास करनेवाली प्रजाओं की रक्षा कीजिए। यह रक्षा किया गया सत्य इनकी रक्षा करनेवाला हो। **पाहि यज्ञम्**=आप ऐसी कृपा कीजिए कि इस घर में यज्ञ सदा सुरक्षित हो, यज्ञ का इस घर में विच्छेद न हो। **पाहि यज्ञपतिम्**=यज्ञ की रक्षा करनेवाले की आप रक्षा कीजिए। **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'** से बना पत्नी शब्द सुव्यक्तरूप से कह रहा है कि यज्ञ की रक्षा का उत्तरदायित्व बहुत कुछ पत्नी पर ही है। उस यज्ञ की रक्षिका (यज्ञ-पति) की आप रक्षा कीजिए और **माम्**=मुझ **यज्ञन्यम्**=सब द्रव्यों को जुटाने के द्वारा यज्ञ को आगे चलानेवाले को भी **पाहि**=सुरक्षित कीजिए।

भावार्थ—पत्नी को विघ्नों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली बनना है, ज्ञान-दीप्ति से ज्ञानधन प्रभु की उपासना करनी है। दान और आदान की क्रिया को ठीक रखना है। सबको खिलाकर खाना है। सबकी आवश्यकताओं को जानकर सभी का पालन करना है। घर में ध्रुव होकर रहना है। तेज को धारण करना है, परन्तु उग्र नहीं बनना। घर को प्रेम के वातावरण से पूर्ण करना है। घर में सब कार्य व्यवस्थित रूप से हों, ऐसी व्यवस्था करनी है और यज्ञ को विच्छिन्न नहीं होने देना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

नमः+स्वधा

अग्ने॑ वाजजिद् वाजं॑ त्वा सरि॒ष्यन्तं॑ वाज॒जित॒ꣳ सम्मा॑र्ज्मि।
नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम्॥ ७॥

गृहपति को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों को जीतनेवाले **वाजं सरिष्यन्तम्**=शक्ति व धन की ओर निरन्तर बढ़नेवाले (सृ गतौ) और इस प्रकार **वाजजितम्**=शक्तियों और धनों के विजेता **त्वा**=तुझे **सम्मार्ज्मि**=मैं अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ। तेरे कारण घर की सदा उन्नति हो। घर में निर्बलता व निर्धनता का स्थान न हो। तू निरन्तर शक्ति व धन की ओर बढ़नेवाला हो तथा इन्हें प्राप्त करनेवाला हो। इस उद्देश्य से मैं तेरे जीवन को पवित्र करता हूँ। जीवन में वासनाओं के मल का प्रवेश होते ही सब उन्नति समाप्त हो जाती है, निर्बलता व निर्धनता का प्रवेश होने लगाता है। धीरे-धीरे शक्ति का ह्रास होकर जीवन विनष्ट हो जाता है।

यह विलास से बचनेवाला गृहपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. **मे**=मेरे इस **सु-यमे**=उत्तम नियम-मर्यादा व आत्म-संयमवाले घर में (क) **देवेभ्यः नमः**=देवों के लिए नमन और (ख) **पितृभ्यः**=पितरों के लिए-वृद्ध माता-पिता आदि के लिए **स्वधा**=अन्न **भूयास्तम्**=सदा बने रहें। जिस घर में लोगों का जीवन विलासमय न होकर शक्ति का

सम्पादन करनेवाला होता है, वह घर 'सु-यम'=उत्तम आत्मसंयमवाला होता है। इस घर के दो लक्षण हैं। एक तो इस घर में देवपूजा सदा बनी रहती है। सर्वमहान् देव प्रभु का उपासन होता है, वायु आदि देवों की पूजा के लिए 'देवयज्ञ' चलता है और घर का नियम यह होता है कि माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझकर उनका उचित आदर सदा बना रहता है। इस घर का दूसरा प्रमुख गुण यह होता है कि इसमें वृद्ध माता-पिता के लिए प्रेमपूर्वक अन्न प्राप्त कराया जाता है। ठीक बात तो यह है कि उन्हें अन्न प्राप्त कराके दूसरे लोग उनके पश्चात् ही खाते हैं। वस्तुतः इस पितृसेवा से छोटी सन्तानों को सुन्दर शिक्षण प्राप्त होता है और इस प्रकार इन बड़ों की सेवा से हम अपना ही धारण करते हैं। 'स्व-धा' शब्द की यही भावना है।

भावार्थ—हमारे घर 'सु-यम' हों। उनमें देवों को नमन और पितरों को स्वधा प्राप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु की शरण में

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थात्॥ ८॥

पिछले मन्त्र में प्रार्थना थी कि हमारे व्यवस्थित घर में 'नमः देवेभ्यः' तथा 'स्वधा पितृभ्यः'—ये दो कार्य सदा चलते रहें। 'देवेभ्यः नमः' ही सामान्य भाषा में 'देवयज्ञ' कहलाता है। उस देवयज्ञ का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। गृहस्थ की प्रार्थना है—१. मैं **अद्य**=आज ही, आज से ही **देवेभ्यः** वायु आदि देवों के लिए **आज्यम्**=घृत को **अंघ्रिणा**=(पादः पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्) अपनी गति व पुरुषार्थ से **अस्कन्नम्**=अविच्छिन्न रूप से **सम्भ्रियासम्**=प्राप्त कराऊँ। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' धातु से बना हुआ 'अस्कन्नम्' क्रियाविशेषण यह सूचित करता है कि अग्नि आदि देवों के लिए मेरा घृत प्राप्त कराने का कार्य शुष्क न हो जाए—बीच में ही समाप्त न हो जाए। मैं यह समझ लूँ कि इस कार्य से मेरी मुक्ति मृत्यु के साथ ही होनी है। यह अग्निहोत्र 'जरामर्य' सत्र है। २. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! मैं **त्वा**=तेरा **मा अवक्रमिषम्**=कभी उल्लंघन न करूँ। मैं सदा आपकी आज्ञा का पालन करनेवाला बनूँ। हे **अग्ने**=मुझे निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभो! मैं **ते**=तेरी **वसुमतीम्**=उत्तम निवास देनेवाली **छायाम्**=शरण में **उपस्थेषम्**=स्थित होऊँ। वास्तविकता यह है कि **विष्णो**=हे सर्वव्यापक प्रभो! **स्थानम् असि**=ठहरने का स्थान तो आप ही हो। सचमुच जीव को आपका ही आधार है। प्रकृति का आधार तो अत्यन्त अविश्वसनीय ही है, सांसारिक बन्धुओं का आधार भी बहुत कुछ स्वार्थमय है।

३. **इतः**=यहाँ से ही—इस प्रभुरूप आधार से ही **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **वीर्यम्**=शक्ति को **अकृणोत्**=सम्पादित करता है। जीव जितना-जितना प्रभु के सम्पर्क में आता है, उतना-उतना ही शक्तिशाली बनता है। सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत प्रभु ही हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि हमारे जीवनों में **अध्वरः**=अहिंसा व अकुटिलता से युक्त यज्ञ **ऊर्ध्वः**=सबसे ऊपर **आस्थात्**=स्थित हो, अर्थात् हम यज्ञ को अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान दें। यह हमारा प्रथम (first and foremost) कर्त्तव्य हो। हम शक्ति प्राप्त करें और उसका विनियोग यज्ञों में करें।

भावार्थ—हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ हो। हम प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करें। हम प्रभु की शरण में स्थित हों, शक्ति प्राप्त करें और उस शक्ति का यज्ञात्मक कर्मों में विनियोग करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

होत्रं, दूत्यम् (देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ)

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यꣳमवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥ ९॥

प्रभु अपने उपासक से कहते हैं कि १. **अग्ने**=हे उन्नति-पथ पर चलनेवाले जीव! **होत्रम्**=अग्निहोत्र को—देवयज्ञ को—देवताओं को देकर यज्ञशेष के खाने की वृत्ति को तू **वेः**=अपने अन्दर प्रेरित कर (वी=गति, वीर गतौ)। तू सदा यज्ञ करनेवाला बन। २. **दूत्यम्**=दूत कर्म को तू **वेः**=अपने में प्रेरित कर। जैसे दूत सन्देश-वहन का काम करता है, उसी प्रकार तू प्रभु के सन्देश-वहन के कार्य को करनेवाला बन। प्रभु की दी हुई इस वेदवाणी को पढ़ता हुआ तू इसका सन्देश औरों को सुनानेवाला बन। वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ तो यही है। ३. इन यज्ञों को ठीक से चलाने के लिए **द्यावापृथिवी**=(मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) मस्तिष्क व शरीर **त्वा**=तेरा **अवताम्**=रक्षण करें। **त्वम्**=तू भी **द्यावापृथिवी**=इन मस्तिष्क व शरीर का **अव**=रक्षण कर। तू इनका ध्यान कर, ये तेरा ध्यान करें। स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर मनुष्य की सब क्रियाओं के साधक होते हैं, अतः मनुष्य को भी इनका पूरा ध्यान रखना है।

४. मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखनेवाला **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **देवेभ्यः**=अग्नि, वायु आदि देवों के लिए **आज्येन**=घृत से तथा **हविषा**=हविर्द्रव्यों से, सामग्री आदि से **स्विष्टकृत्**=(सु+इष्ट+कृत्) उत्तम यज्ञों को करनेवाला **भूत्**=हो। मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का रहस्य 'इन्द्र' शब्द से व्यक्त हो रहा है। 'इन्द्रः' का अर्थ है जितेन्द्रिय। जितेन्द्रियता ही स्वास्थ्य का मूल-मन्त्र है। यह जितेन्द्रिय पुरुष कभी स्वादवश न खाएगा और न रोगी होगा। **'रसमूला हि व्याधयः'**—स्वाद ही बीमारियों का मूल है। **स्वाहा**=यह 'स्व' स्वार्थ का 'हा'=त्याग तो उसमें सदा बना ही रहे। ५. हे इन्द्र! तू **ज्योतिषा**=ज्योति के द्वारा **ज्योतिः सम्** (गच्छस्व)=ज्योति को प्राप्त करनेवाला बन। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा और ज्ञानवृद्ध होकर इस ज्ञान के सन्देश को दूसरों तक पहुँचानेवाला बन। इस प्रकार तेरा जीवन 'होत्र व दूत्य' से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ शरीरवाले बनकर यज्ञ आदि कर्मों में निरत रहें और स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने व करानेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शक्ति+धन+इच्छा

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी
मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा॥ १०॥

१. गत मन्त्र के होत्र व दूत्य तभी ठीक चल सकते हैं, जब शरीर में शक्ति हो।

शक्ति के साथ धन भी आवश्यक है। धनाभाव में द्रव्यसाध्य ये यज्ञ कैसे चल सकते हैं? द्रव्य भी हो, परन्तु इच्छा न हो तो भी यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रवर्तन नहीं होता, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'शक्ति, धन व सदिच्छा' की प्रार्थना की गई है। २. **इन्द्रः**=सर्वशक्ति-सम्पन्न, परमैश्वर्यवान् प्रभु **मयि** =मुझमें **इदं इन्द्रियम्**=इस शक्ति को **दधातु**=स्थापित करे। मेरी एक-एक इन्द्रिय पूर्ण आयुष्यपर्यन्त शक्ति-सम्पन्न बनी रहे, जिससे मैं उत्तम कर्मों के करने में सक्षम बना रहूँ। ३. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक **रायः**=धन **अस्मान्**=हमें **सचन्ताम्**=प्राप्त हों, परन्तु ये धन **मघवानः**=(मा अघ) पाप के लवलेश से भी शून्य हों। हमारे धन पवित्र हों और यज्ञादि पवित्र कार्यों के वे साधन बनें। ४. शक्ति और धन के होने पर **अस्माकं आशिषः सन्तु**=हममें विविध कार्यों के लिए इच्छाएँ हों। इन इच्छाओं के अभाव में वे धन किसी भी कार्य में विनियुक्त न होकर हमारे कोशों में ही बन्द रहेंगे। कृपण का धन सदा धन ही बना रहता है, वह उत्तम कार्यों में विनियुक्त होकर उसे 'धन्य' कहलाने योग्य नहीं बनता, अतः हममें इच्छाएँ हों, परन्तु **नः**=हमारी ये **आशिषः**=इच्छाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों। अशुभ इच्छाएँ हमारे धनों का विनियोग अशुभ कार्यों में करवाकर हमारे विनाश का कारण ही बनेंगी।

४. **पृथिवी माता**=यह भूमिरूप माता **उपहूता**=मेरे द्वारा पुकारी जाए और **माम्**=मुझे **पृथिवी माता**=यह भूमि माता **उप**=समीप **ह्वयताम्**=पुकारे। मैं पृथिवी को माता समझूँ और पृथिवी मुझे पुत्र-तुल्य प्रेम करे। अध्यात्म में 'पृथिवी' शरीर है। इस शरीर को मैं माता समझूँ। माता के समान यह शरीर मेरे लिए आदरणीय हो। मैं इसकी कभी उपेक्षा न करूँ। शरीर को जितना हम पृथिवी के सम्पर्क में रखेंगे, उतना ही यह स्वस्थ रहेगा। 'शरीर पर भस्म रमाना, अखाड़े की शुद्ध मिटी में लोट-पोट होना, भूमि पर सोना, नङ्गे पाँव चलना'—ये सब बातें शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनती हैं। हाँ, इन सब बातों को बुद्धिपूर्वक करना चाहिए। पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैसे माता बच्चे का अपने दूध से पोषण करती है, उसी प्रकार यह पृथिवी माता अपने ओषधिरसों से हमारा पालन करती है। ५. 'आग्नीध्र' शब्द द्यावापृथिवी के लिए प्रयुक्त होता है। **'द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः'**—शत० १।८।१।४१। इस **आग्नीध्रात्**=अग्नि के आधारभूत पृथिवी से **अग्निः**=पृथिवी का यह मुख्य देव अग्नि **स्वाहा**=मुझमें सुहुत हो (सु+हा)। पृथिवीस्थ देवों का मुख्य देवता अग्नि है। इस शरीर में भी मुख्यता इस अग्निदेव की ही है। जब तक यह है तभी तक जीवन है। यह शान्त हुआ और जीवन भी समाप्त हो जाता है। मुझमें यह अग्नि बना रहे और मैं शक्ति, धन तथा सदिच्छाओं का सम्पादन करता हुआ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगा रहूँ।

भावार्थ—मुझमें शक्ति हो, सुपथ से अर्जित धन हो। मेरा धन शुभ इच्छाओं से पूर्ण हो। मैं इस पृथिवी माता का प्रिय बनूँ। मुझमें अग्नि अर्थात् जीवन हो, जिससे मेरे द्वारा यज्ञादि कार्य सम्पन्न हो सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्यावापृथिवी। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

स्वस्थ मस्तिष्क

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि॥ ११॥

१. गत मन्त्र 'पृथिवी माता' के उपाह्वान के साथ समाप्त हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र द्यौष्पिता के आह्वान से आरम्भ होता है। **द्यौः पिता**=पितृस्थानीय यह द्युलोक **उपहूतः**=मेरे द्वारा समीप पुकारा जाता है। यह **द्यौःपिता**=पितृस्थानीय द्युलोक **माम्**=मुझे **उपह्वयताम्**=अपने समीप पुकारे। मैं द्युलोक के समीप होऊँ और द्युलोक मेरे समीप हो। अध्यात्म में यह 'द्युलोक' मस्तिष्क है। मैं मस्तिष्क के समीप, मस्तिष्क मेरे समीप, अर्थात् मेरा मस्तिष्क सदा स्व-स्थ हो। मेरी बुद्धि मुझमें ही रहे, कहीं घास चरने न चली जाए। **आग्नीध्रात्**=सूर्यरूप अग्नि के आधार-स्थान इस द्युलोक से **अग्निः**=सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश **स्वाहा**=मुझमें सुहुत हो। मैं स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनूँ और मेरे ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान चमकनेवाला हो।

२. स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनकर मैं **त्वा**=प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **प्रतिगृह्णामि**=ग्रहण करूँ। प्रभु के आदेशानुसार प्रत्येक पदार्थ का माप-तोलकर सेवन करूँ। मेरा प्रयोग मात्रा में हो, जिससे वे पदार्थ मेरी बल-वृद्धि का कारण बनें। ३. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=मैं प्रत्येक पदार्थ को प्राणापान के प्रयत्न से लूँ। बिना प्रयत्न के प्राप्त पदार्थ मेरे ह्रास का ही कारण बनेगा। ४. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=मैं प्रत्येक पदार्थ को पूषा के हाथों से लूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से उसका प्रयोग करूँ। स्वाद या सौन्दर्य मेरे मापक न हों, उपयोगिता ही मेरी कसौटी हो। ५. अन्तिम बात यह कि **त्वा**=तुझे **अग्नेः आस्येन**=अग्नि के मुख से **प्राश्नामि**=खाता हूँ। पहले तुझे अग्नि को खिलाता हूँ, फिर अवशिष्ट का ही ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मैं यज्ञशेष का ही सेवन करता हूँ।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्कवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग (क) प्रभु के आदेशानुसार मात्रा में करता है, (ख) प्रयत्नपूर्वक अर्जित पदार्थ का ही सेवन करने की कामना करता है, (ग) उसका मापक पोषण होता है, न कि स्वाद और (घ) अन्त में वह यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सृष्टि-यज्ञ का उद्देश्य

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥ १२॥

हे **सवितः**=सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले—सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक! **देव**=सब साधनों को देनेवाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त तथा उपासकों को ज्ञान-ज्योति से द्योतित करनेवाले (देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा द्योतनाद्वा) प्रभो! **ते**=आपके **एतम् यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को **बृहस्पतये**=(बृहतः पतिः) विशाल हृदय के पति के लिए और **ब्रह्मणे**=उत्कृष्ट सात्त्विक गतिवालों में भी सर्वप्रथम ब्रह्मा के लिए **प्राहुः**=कहते हैं, अर्थात् आपने इस सृष्टिरूप यज्ञ का प्रवर्तन इसलिए किया है कि (क) इसमें जीव उन्नति करते-करते अपने हृदय को अत्यन्त विशाल बनाये। असुर स्वार्थी हैं, देव दानवृत्तिवाले हैं। उन देवों का यह बृहस्पति पुरो-हित है, model है, आदर्श है। हमें इस सृष्टि में बृहस्पति बनना है। यह अपनी ही रक्षा में नहीं लगा रहता, यह इन बड़े-बड़े सभी लोकों का पालन करनेवाला होता है। २. इस सृष्टि-यज्ञ का दूसरा उद्देश्य यह है कि जीव ब्रह्मा बन सके। तमोगुण से ऊपर उठकर रजोगुण में, रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में और सत्त्वगुण में भी यह आगे बढ़कर

उत्कृष्ट सात्त्विक जीवनवाला बने। इनमें भी सर्वप्रथम स्थान में 'ब्रह्मा' बने।

हे प्रभो! आप **तेन**=इसी उद्देश्य से कि मैं बृहस्पति व ब्रह्मा बन सकूँ **यज्ञं अव**=मुझमें यज्ञ की भावना को सुरक्षित कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **यज्ञपतिम्**=यज्ञ का पालन करनेवाले मेरी रक्षा कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **मां अव**=मेरा पालन कीजिए, अर्थात् यदि मुझमें 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने की भावना न हो तब तो मेरा यह जीवन व्यर्थ ही है, उस जीवन की रक्षा के लिए मैं क्या प्रार्थना करूँ? हे प्रभो! मैं आपकी कृपा से आपसे किये जानेवाले इस सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझूँ और इसमें विशाल हृदय व उत्तम सात्त्विक व्यक्ति की श्रेणी में सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करूँ। **'सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्'**—सत्त्व का लक्षण ज्ञान है, अतः मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा' बन पाऊँ। मैं चारों विद्याओं का ज्ञाता होऊँ—प्रकृति विद्या और जीवविद्या (natural and social sciences) में निपुण बनने के साथ मैं आध्यात्मिक विद्या में (Metaphysics) तो निपुण बनूँ ही, इनके अतिरिक्त आयुर्वेद (Medical science) और युद्ध-विद्या (Science of war) में भी नैपुण्य प्राप्त करूँ। ऋग्वेद 'प्रकृति-विद्या' का वेद है, यजुर्वेद 'जीवविद्या' का, साम 'अध्यात्मविद्या' का प्रतिपादक है और अथर्व 'आयुर्वेद व युद्धविद्या' का उल्लेख करता है। मैं इन चारों का वेत्ता (ब्रह्मा) बन पाऊँ। यही तो इस जीवन की सार्थकता है।

भावार्थ—हम सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझें और विशाल हृदय तथा ज्ञान-सम्पन्न बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

ओम् का प्रतिष्ठापन

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳस॒मि॒मं द॑धातु।
विश्वे॑ दे॒वास॑ऽइ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ॥ १३॥

१. इस सृष्टि-यज्ञ में हमें बृहस्पति और ब्रह्मा बनना है। **मनः**=मेरा मन **जूतिः**=वेग का **जुषताम्**=सेवन करे। मेरा मन संकल्परूप क्रिया से शून्य न हो। वेगशून्य मन से मैं इस जीवन-यात्रा को क्या पूरा कर पाऊँगा, क्या बृहस्पति और ब्रह्मा बनूँगा? २. मेरा मन **आज्यस्य**=घृत—ज्ञान-दीप्ति का **जुषताम्**=सेवन करे। ३. **बृहस्पतिः**=विशाल हृदय का पति बनकर मनुष्य **इमम्**=इस **अरिष्टम्**=हिंसा से बचानेवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **तनोतु**=विस्तृत करे। जब मनुष्य अपने हृदय को विशाल बनाता है और प्राणिमात्र को अपनी 'मैं' में सम्मिलित कर लेता है तब उसकी वृत्ति यज्ञिय बनती है। यह यज्ञिय वृत्ति मनुष्य को अहिंसित रखती है। यज्ञ से विपरीत भोग या विलास की वृत्ति उसे विनाश की ओर ले-जाती है। इसलिए इस विशाल हृदय मनुष्य को चाहिए कि **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ की भावना को **सन्दधातु**=सम्यक्तया धारण करे।

४. **इह**=इस यज्ञिय वृत्तिवाले मनुष्य के अन्दर **विश्वे देवासः**=सब देव **मादयन्ताम्**=हर्षपूर्वक निवास करें, अर्थात् इस व्यक्ति के जीवनोद्यान में दिव्य गुणरूप पुष्प सदा खिले हुए हों। जितना-जितना इस व्यक्ति में दिव्य गुणों का विकास होगा, उतना-उतना ही यह व्यक्ति प्रभु के आतिथ्य के लिए तैयार हो जाएगा। अब दिव्य गुणों के विकास के पश्चात् कहते हैं कि ५. **ओ३म्**=हे सर्वरक्षक प्रभो! **प्रतिष्ठ**=आप अब इस व्यक्ति के हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित हो जाइए। जिस प्रकार किसी महान् व्यक्ति को आना हो तो उससे पूर्व उसके

निचले व्यक्ति आ जाते हैं और उसके आने के लिए उसके सारे वातावरण को तैयार कर देते हैं। इसी प्रकार यहाँ देव उपस्थित होकर उस महादेव के आने के लिए सब सम्भारों को जुटा देते हैं। हृदय-मन्दिर में ब्रह्म का स्थापन करनेवाला ही ब्रह्मा है।

भावार्थ—मेरा मन क्रियाशून्य न हो, प्रतिक्षण ज्ञान का अर्जन करे। मैं बृहस्पति=विशाल हृदय बनकर अहिंसक यज्ञ का सेवन करूँ। मेरे जीवन में सब दिव्य गुणों का विकास हो जिससे मेरा हृदय प्रभु की प्रतिष्ठा के योग्य बन जाए। मेरे हृदय-मन्दिर में प्रभु की प्रतिष्ठा हो और मैं ब्रह्मा नामवाला बनूँ। यही तो उत्तम सात्त्विक गुणों में भी सर्वप्रथम स्थान में स्थित होना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्[क], भुरिगार्चीगायत्री[ख]। **स्वरः**—गान्धारः[क], षड्जः[ख]॥

दीप्ति (The greatest light)

[क] **एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व।**
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि।
[ख] **अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजित्ꣳसम्मार्ज्मि॥ १४॥**

१. पिछले मन्त्र में 'बृहस्पति और ब्रह्मा' बनने का उल्लेख था। अपने मन में वेग व ज्ञान-दीप्ति को धारण करके वह याज्ञिक वृत्तिवाला 'बृहस्पति' बना था और धीरे-धीरे दिव्य गुणों का विकास करके उसने अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु को प्रतिष्ठित किया था। उसका हृदय-मन्दिर सहस्र सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म से चमक उठा था। इस मन्त्र का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाले जीव **एषा**=यही **ते**=तेरी **समित्**=(इन्धी दीप्ति) दीप्ति है। **तया**=इस दीप्ति से तू **वर्धस्व**=बढ़, **च**=और **आप्यायस्व**=पूर्णरूप से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृद्धिवाला हो। जिस दिन हममें प्रभु की ज्योति जागती है, उस दिन सब प्रकार की मलिनताओं की समाप्ति हो जाती है। किसी बड़े व्यक्ति को आना हो तो जिस प्रकार उसके आगमन-स्थान को स्वच्छ कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु के आने के प्रसङ्ग में मेरा शरीर निर्मल होकर खूब फूला-फला लगता है।

२. हे प्रभो! हमारी यही आराधना है कि **वयम्**=हम **वर्धिषीमहि**=निरन्तर बढ़ें **च**=और **आप्यासिषीमहि**=हमारे एक-एक अङ्ग का आप्यायन हो। वास्तविक आप्यायन और वर्धन प्रभु के प्रतिष्ठान के अनुपात में ही होता है। ३. उल्लिखित प्रार्थना करनेवाले साधक से प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे उन्नतिशील जीव! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों के विजेता! **वाजं ससृवांसम्**=शक्ति की ओर चलने में सफल **वाजजितम्**=सब शक्तियों व धनों के विजेता **त्वा**=तुझे मैं **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर देता हूँ।

४. सातवें मन्त्र में 'वाजं त्वा सरिष्यन्तम्' कहा था, यहाँ 'वाजं त्वा ससृवांसम्' कहा गया है। 'सरिष्यन्तं' इस भविष्यत् का स्थान 'ससृवांसम्' इस भूतकाल ने ले-लिया है, मानो आरम्भ हुई बात यहाँ पूर्ण हो गई है। वस्तुतः 'प्रभु प्रतिष्ठापन' के अतिरिक्त और पूर्णता होनी ही क्या है? प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी शक्ति से साधक भी शक्तिमान् होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने में प्रतिष्ठित करना ही आराधक की सर्वमहती दीप्ति है। यह आराधक प्रभु की शक्ति से शक्तिमान् बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्नीषोमौ [क], इन्द्राग्नी [ख]। छन्दः—ब्राह्मीबृहती [क], निचृदतिजगती [ख]। स्वरः—मध्यमः [क], निषादः [ख]॥

प्रभु का प्रतिष्ठापन कैसे हुआ ?

[क] अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि। [ख] इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि॥ १५॥

१. **अग्नीषोमयोः**=अग्नि व सोमतत्त्व की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पश्चात् मैंने **उज्जेषम्**=इस प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप विजय को पाया। अग्नितत्त्व 'ज्ञान' का प्रतीक है और सोम 'सौम्यता व नम्रता' का। जब मैंने अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित किया और मेरे व्यवहार में सौम्यता व नम्रता ने स्थान लिया तभी मैं जहाँ अपने जीवन को रसमय बना पाया, वहाँ अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु का प्रतिष्ठापन करनेवाला बना। 'अनु' पद का महत्त्व स्पष्ट है—'पश्चात्'। इस विद्या और विनय (अग्नि व सोम) की विजय के पश्चात् ही प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय हुआ करती है। विद्याविनीत को ही प्रभुदर्शन होता है, अतः मैं २. **वाजस्य प्रसवेन**=(वाग्वै वाजस्य प्रसवः—तै० २।३।२।५) वेदवाणी के द्वारा **मा**=अपने को **प्रोहामि**=परिवर्तित (to change, to modify) करता हूँ—अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता हूँ। 'वाज' का अर्थ है 'शक्ति और ज्ञान'। वेदवाणी ज्ञान को तो उत्पन्न करती ही है, यह मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर उसे काम-क्रोध से बचाकर शक्तिशाली भी बनाती है। इस प्रकार शक्ति और ज्ञान की उत्पादिका होने से वेदवाणी को यहाँ 'वाजस्य प्रसव' कहा गया है। मेरे ये **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोम—विद्या और विनय **तम्**=उस व्यक्ति को **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ अप्रीति करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजहित-द्वेषी को **वाजस्य प्रसवेन**=ज्ञान व शक्ति की उत्पादिका इस वेदवाणी से **अप+ऊहामि**=मैं दूर करता हूँ (to remove)।

४. **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पीछे **उज्जेषम्**=मैंने प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय की है। अग्नि 'ज्ञान व प्रकाश' का प्रतीक है तो इन्द्र 'बल' का (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य—नि०) बल के सब कार्य इन्द्र के द्वारा ही किये जाते हैं। इन्द्र ने ही सब असुरों का संहार किया है। शक्ति और ज्ञान की विजय हमें ब्रह्मविजय के योग्य बनाती है। मैं इस शक्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिए **वाजस्य प्रसवेन**=इस वेदवाणी से **मा**=अपने को **प्रोहामि**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता हूँ। **इन्द्राग्नी**=ये इन्द्र और अग्नि—शक्ति और ज्ञान **तम्**=उसको **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजद्वेषी व्यक्ति को **वाजस्य प्रसवेन**=वेदवाणी के द्वारा अर्थात् शक्ति और ज्ञान के उत्पादन के द्वारा **अप ऊहामि**=दूर करता हूँ। वस्तुतः यदि वह समाज-द्वेषी व्यक्ति इस वेदवाणी का अध्ययन करने लगता है तब उसका जीवन परिवर्तित होकर वह द्वेषी रहता ही नहीं और हम अपनी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि कर लेने पर द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठ जाते हैं और उस द्वेषी के साथ इस प्रकार वर्तते हैं कि वह

समाज की हानि का कारण नहीं बन पाता।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'अग्नि और सोम'—विद्या और विनय का सम्पादन करें। हम 'इन्द्र और अग्नि'—शक्ति व ज्ञान का—क्षत्र व ब्रह्म का विकास करनेवाले बनें जिससे ब्रह्म का विजय कर सकें, अर्थात् अपने हृदयों में ब्रह्म का प्रतिष्ठापन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च[क], अग्निः[ख]। **छन्दः**—भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्त्रिष्टुप्[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[ख]॥

पति-पत्नी की परस्पर प्रेरणा

[क] वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। [ख] व्यन्तु वयोक्तꣳरिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पाऽअग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि॥ १६॥

१. प्रभु के प्रतिष्ठापन का प्रकरण चल रहा है। प्रभु का प्रतिष्ठापन तो तभी होगा जब हमारे जीवनों में सभी देवों का निवास होगा, अतः पत्नी कहती है कि—**वसुभ्यः त्वा**=मैं आपको वसुओं के लिए सौंपती हूँ, **रुद्रेभ्यः त्वा**=आपको रुद्रों के लिए सौंपती हूँ और **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आपको आदित्यों के लिए सौंपती हूँ, अर्थात् मेरी इच्छा है कि आपका उठना-बैठना वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के साथ हो। स्वास्थ्य को उत्तम बनानेवाले 'वसु' हैं, मानस को निर्मल बनानेवाले 'रुद्र' हैं तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनानेवाले 'आदित्य' हैं। पत्नी की प्रथम कामना है कि उसके जीवन-सखा का मेल-जोल स्वस्थ, निर्मल व उज्ज्वल पुरुषों के ही साथ हो। ऐसा होने पर ही व्यक्ति में देवों का निवास हुआ करता है। २. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **संजानाथाम्**=आपमें समता से निवास करनेवाले (to live in harmony with) हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों स्वस्थ हों। शरीर सशक्त हो तो मस्तिष्क उज्ज्वल। ३. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा 'मित्र'=स्नेह की देवता और 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता **त्वा**=आपको **वृष्ट्या**=आनन्द की वर्षा से **आवताम्**=(अव to give pleasure) आनन्दित करें। आपमें स्नेह हो, किसी के प्रति द्वेष न हो और इस प्रकार आपका जीवन आनन्दमय हो।

अब पति पत्नी से कहता है—४. **वयः**=(पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि—महीधर) मनुष्य को ऊँची उड़ान करानेवाले—उसके जीवन को उच्च बनानेवाले गायत्री आदि छन्द **अक्तम्**=स्पष्टरूप से **रिहाणाः**=(आस्वादयन्तः) तुम्हें आनन्दित करते हुए **व्यन्तु**=प्राप्त हों, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन में तुम्हें अनुपम आनन्द का अनुभव हो, तुम्हारा अवकाश का सारा समय वेदाध्ययन में बीते। ५. **मरुताम्**=वायुओं की **पृषती**=घोड़ियों को **गच्छ**=तुम प्राप्त होओ। 'मरुत्' प्राण हैं। इनकी सवारियों का अभिप्राय इनपर आरुढ़ होना है—प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को वश में करना है। तुम प्राणायाम करनेवाले बनो। आचार्य ने लिखा है कि यह प्राणायामरूप योगसाधन पत्नी भी अवश्य करे। ६. **वशा**=प्राणसाधना के द्वारा तू 'वशा' चित्तवृत्तियों को वश में करनेवाली बन। 'योग' चित्तवृत्तिनिरोध ही है। प्रतिदिन के प्राणायाम के अभ्यास से तेरा चित्त तेरे वश में हो। ७. **पृश्निः**=(संस्पृष्टा भासं ज्योतिषाम्) तू चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि होकर ज्ञान-दीप्तियों का स्पर्श करनेवाली बन। ८. तू पृश्नि **भूत्वा**=होकर **दिवम् गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त कर—दिव्यता का साधन कर और **ततः**=तब **नः**=हमारे लिए **वृष्टिं आवह**=आनन्द की वृष्टि लानेवाली हो। घर में पति तो

खूब ज्ञान-सम्पन्न हो, परन्तु पत्नी ज्ञान-शून्य हो तो घर में आनन्द नहीं आता, अतः पति कहता है कि पत्नी भी ज्ञान-सम्पन्न व संयत जीवनवाली हो और घर को सदा प्रकाशमय रक्खे।

९. अब पति-पत्नी दोनों मिलकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **चक्षुष्पाः असि**=आप हमारे चक्षु=ज्ञान के रक्षक हैं, **चक्षुः मे पाहि**=आप मेरे ज्ञान की रक्षा कीजिए—मेरे दृष्टिकोण को ठीक बनाये रखिए। वस्तुतः संसार का अच्छा व बुरापन हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। हमारा दृष्टिकोण ठीक है तो संसार ठीक है, जब हमारा दृष्टिकोण दूषित होता है तो संसार भी विकृत हो जाता है। ठीक दृष्टिकोणवाले संसार में आने का उद्देश्य 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनना—विशाल हृदय व ज्ञानी बनना समझते हैं नकि मौज या भोग-विलास करना। जब हमारा दृष्टिकोण ठीक होगा तो संसार पुण्यमय बनेगा, अन्यथा पापमय।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी दोनों ज्ञान-सम्पन्न व स्वस्थ हों। उनका दृष्टिकोण ठीक हो।

ऋषिः—देवलः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अ-विस्मरण

यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः।
तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्॥ १७॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार जब मनुष्य का संसार में रहने का दृष्टिकोण ठीक होता है तब वह 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने के मार्ग पर चलता है, नकि मौज के मार्ग पर। यह प्रार्थना करता है—**अग्ने** =हे प्रकाशमय प्रभो! **देवपणिभिः**=दिव्य गुणोंवाले स्तोताओं से (पण्=स्तुति) **गुह्यमानः**=(गुह=Hug, to emberace) आलिङ्गन किये जाते हुए आप **यं परिधिम्**=जिस मर्यादा को **पर्यधत्थाः**=धारण करते हो, **ते**=आपकी **तं एतम्**=उस प्रसिद्ध मर्यादा को **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **अनुभरामि**=मैं अपने अन्दर भरता हूँ, अर्थात् आपने जिन मर्यादाओं को उपदिष्ट किया है मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ, उन मर्यादाओं का बड़े प्रेम से पालन करता हूँ। २. **एषः**=यह मैं **त्वत्**=आपसे **न अपचेतयाता**=विस्मरण के कारण दूर नहीं होता। **इत्**=निश्चय से मैं यह संकल्प करता हूँ कि संसार में आने के अपने उद्देश्य को मैं भूलूँगा नहीं। आपका स्मरण करता हुआ मैं सदा मर्यादाओं का पालन करूँगा और अपने इस मानव-जीवन में आगे और आगे बढ़ता हुआ उत्तम सात्त्विक गतिवाला ब्रह्मा व बृहस्पति (महान्) बनकर रहूँगा।

'मैं ऐसा बन सकूँ' इसके लिए प्रार्थना करता हूँ कि **अग्नेः**=संसार के अग्रणी प्रभु का **प्रियं पाथः** =प्रीति देनेवाला रक्षण **अपीतम्**=(अपि-इतम्) मुझे अवश्य प्राप्त हो। प्रभु के रक्षण के बिना मैं इस उच्च स्थिति में क्या पहुँच पाऊँगा? 'पाथः' शब्द का अर्थ अन्न भी है, अतः मुझे **प्रियम्**=प्रीतिकर, अर्थात् सात्त्विक **पाथः**=अन्न प्राप्त हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से मेरी बुद्धि सात्त्विक बनी रहेगी और मैं मार्ग से विचलित न होऊँगा।

भावार्थ—मैं प्रभु द्वारा स्थापित मर्यादा का पालन करूँ। मुझे प्रभु का कभी विस्मरण न हो और मैं प्रभु का रक्षण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वेद का सन्देश

सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः।
इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तऽआसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳस्वाहा वाट्॥ १८॥

१. गत मन्त्र में उपासक ने प्रार्थना की थी कि 'मैं प्रभु को न भूलूँ'। इस भक्त से प्रभु कहते हैं कि **सं-स्रव-भागाः स्थ**=(स्रु गतौ, भज् सेवायाम्) उत्तम गतिवाले तथा उत्तम सेवन-पूजनवाले बनो। तुम्हारे कर्म उत्तम हों—तुम्हारा प्रभु-भजन उत्तम हो। कई बार प्रभु-भजन विकृत हो जाता है और हमें परस्पर द्वेष करनेवाला बनाता है। तुम्हारा प्रभु-पूजन तुम्हें 'सर्वभूतहिते रतः' बनाये। २. **इषा**=(इष प्रेरणे) प्रेरणा के द्वारा **बृहन्तः**=तुम अपना वर्धन करनेवाले बनो। मेरी प्रेरणा को सुनो और आगे बढ़ो। ३. **प्रस्तरेष्ठाः**=(प्र स्तृ+स्थ) प्रकृष्ट आच्छादन में तुम स्थित होओ, औरों के दोषों का उद्घोषण करते हुए तुम निन्दक न बन जाओ। इससे तुम्हारा अपना ही जीवन निकृष्ट बनेगा। 'प्रस्तर' का अर्थ पत्थर भी है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि तुम पत्थर पर स्थित होओ, अर्थात् पत्थर के समान अविचल होने की भावना को धारण करो। तुम्हें नीति-मार्ग से किसी प्रकार की स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति का लोभ व मृत्यु का भय विचलित करनेवाला न हो। ४. **परिधेयाः**=तुम परिधि में चलनेवालों में उत्तम बनो। तुम्हारा जीवन उत्तम एवं मर्यादित हो। ५. **च** =और **देवाः**=(दिव् क्रीडायाम्) क्रीड़ा की भावनावाले बनो। संसार में जय-पराजय, हानि-लाभ व जीवन-मरण को क्रीड़ा के रूप में देखो। तुममें sportsman like spirit हो। यह खिलाड़ी पुरुष की भावना तुम्हें हर्ष-शोक के द्वन्द्व से ऊपर उठा दे।

६. बस, **इमां वाचम्**=इस वाणी को—इस उल्लिखित वेद-सन्देश को **विश्वे**=तुम सब **अभिगृणन्तः**=सोते-जागते उच्चारण करते हुए, अर्थात् सदा स्मरण करते हुए **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=वासना-शून्य पवित्र हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। हम उल्लिखित वेद-सन्देश का जप तो करें ही, उस वाणी में स्थित भी हों, अर्थात् उसके अनुसार आचरण भी करें तभी हमारे हृदय वासनाशून्य बनेंगे। ७. जब हम इस वाणी का उच्चारण करते हुए इसके अनुकूल आचरण करेंगे तब **स्वाहा** =(स्व-हा) हम अपने स्वार्थ का त्याग और **वाट्**=(वहन्ति क्रियया सुखम्) औरों के लिए सुखों का वहन करनेवाले बनेंगे। धर्म का सार यही है कि **'परोपकारः पुण्याय'** हम परोपकारी बनें। हमारे जीवन में 'स्वाहा' और वाट्—स्वार्थत्याग और पर-सुख-प्रापण की वृत्ति हो।

भावार्थ—उत्तम कर्म, उत्तम उपासना, वेद की प्रेरणा के अनुसार शक्तिवर्धन, धर्म में स्थिरता, निन्दा-त्याग, मर्यादा का पालन और क्रीड़ा की भावना—यह वेद-सन्देश है। इस वाणी का जप और आचरण करके हम शुद्ध हृदय में आनन्द का अनुभव करें। हममें स्वार्थत्याग और परोपकार की भावना हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निवायू। छन्दः—भुरिक्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ और नमस्

घृताचीं स्थो धुर्यौ पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्।
यज्ञ नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व॥ १९॥

घृताची शब्द नपुंसकलिङ्ग का द्विवचन है। जहाँ पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ कहना होता है, वहाँ नपुंसकलिङ्ग के व्यवहार की शैली है। प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं—१. **घृताची स्थः**=तुम दोनों मलों के क्षरण से क्रिया के सञ्चालक हो (घृ=दीप्ति, अञ्चू पूजन)। २. **धुर्यौ**=गृहस्थ की गाड़ी को उत्तमता से खींचनेवाले हो। ३. **सुम्ने**=(सुम्न=A sacrifice) यज्ञशील बनकर **पात**=अपनी रक्षा करो। यज्ञ मनुष्य को विलास और परिणामतः विनाश से बचाता है। ४. तुम दोनों सदा **सुम्ने**=(A hymn, Joy) स्तुति तथा आनन्द में **स्थः**=स्थित होते हो। प्रभु-स्तवन में तुम्हें आनन्द का अनुभव होता है। ५. **मा** =मुझे **धत्तम्** =अपने में धारण करो। प्रभु को धारण करना ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। **यज्ञः नमः च**=यज्ञ और नमन **ते**=तेरे **उप**=सदा समीप हों। तू यज्ञ करे और नम्रतापूर्वक उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाला बन। यही तो **'कुरु कर्म त्यजेति च'** है—करना और छोड़ना। करना तो सही, परन्तु उन कर्मों का अहंकार न करना। **च**=और तू **यज्ञस्य**=यज्ञ के **शिवे**=कल्याणकर मार्ग में **सन्तिष्ठस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, अर्थात् तू यज्ञों से कभी दूर न हो। ७. **स्विष्टे**=(सु+इष्टे) मेरे अत्यन्त प्रिय (इष्ट, इच्छ+क्त) इन उत्तम यज्ञों (इष्ट, यज्+क्त) में स्थित होकर **मे सन्तिष्ठस्व**=मुझमें स्थित हो। यज्ञों के द्वारा हमें प्रभु में स्थिति प्राप्त होती है। इसी 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त करना जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

भावार्थ—हमारा जीवन उत्तम यज्ञों से परिपूर्ण हो। उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित कर हम प्रभु में स्थित होनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निसरस्वत्यौ। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्याऽअविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वाड्ग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा॥ २०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि यज्ञ में स्थित होकर तू मुझमें स्थित हो। प्रस्तुत मन्त्र का विषय यह है कि यज्ञ में स्थिति कैसे हो? हमारा जीवन यज्ञमय हो, अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं—१. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अदब्धायो**=(अ+दब्ध+आयु=मनुष्य) जिसके आश्रय में मनुष्यों का नाश नहीं होता अथवा (इ गतौ से आयु) अहिंसित गतिवाले! **अशीतम**=(अश् व्याप्तौ) सर्वाधिक व्याप्त सर्वव्यापक प्रभो! **मा**=मुझे **दिद्योः**=द्यूतरूप घातक वृत्ति से **पाहि**=बचाइए। मुझमें जुए की भावना उत्पन्न न हो। मैं सदा श्रम से ही धनार्जन की वृत्तिवाला बनूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**—पाशों से मत खेल, कृषि ही कर—वेद में दिये गये आपके इस उपदेश को मैं कभी न भूलूँ। २. इस प्रकार पुरुषार्थ से धन कमाने की वृत्तिवाला बनाकर आप मुझे **प्रसित्यै**—प्रसित्याः=विषयों के बन्धन से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। मैं किसी विषय-बन्धन में न पड़ जाऊँ। मुझे सांसारिक विषयों का चस्का न लग जाए। ३. **दुरिष्ट्यै**—दुरिष्ट्याः=मुझे अशुभ इच्छाओं से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। 'मुझमें अशुभ कामनाएँ उत्पन्न ही न हों'। इसके लिए **दुरद्मन्याः**=अशुभ भोजन से **पाहि** =बचाइए। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण भी शुद्ध रहता है और अशुभ इच्छाओं के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तुतः यहाँ 'दिद्यु, प्रसिति, दुरिष्टि तथा दुरद्मनी' में एक विशेष कार्यकारण सम्बन्ध है। अशुद्ध भोजन न होने पर अशुभ इच्छाएँ नहीं

होतीं, अशुभ इच्छाओं के न होने पर मनुष्य विषयों की ओर नहीं झुकता और विषयासक्ति न होने पर मनुष्य द्यूतवृत्ति से धन कमाने की ओर नहीं झुकता।

हे प्रभो! **नः**=हमारे **पितुम्**=अन्न को **अविषम्**=विषरहित **कृणु**=कीजिए। हमारे भोजनों में किसी प्रकार के मद-जनक व स्वास्थ्य-विघातक अंश न हों। ६. इस प्रकार शुद्ध भोजन से शुद्ध मन व शरीरवाला होकर तू **योनौ**=इस गृह में **सु-षदा** =उत्तम प्रकार से आसीन हो। ७. **स्वाहा**=तू (स्व+हा) स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला बन और **वाट्**=सभी को सुख प्राप्त करानेवाला हो (वह प्रापणे) ८. **अग्नये**=सब उन्नतियों के साधक **संवेशपतये**=निद्रा के द्वारा रक्षण करनेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=तू अपना समर्पण कर। प्रभु ने हमारी उन्नति के लिए ही इस 'निद्रा' का निर्माण किया है। इसमें कुछ देर के लिए हम सब कष्टों को भूल जाते हैं, शरीर की सब टूट-फूट ठीक हो जाती है, उत्पन्न हुए कुछ मल दूर हो जाते हैं और हम अगले दिन के कार्यक्रम के लिए उद्यत हो जाते हैं। रात्रि में सोते समय हम प्रभु का ध्यान करते हुए सो जाएँ तो सारी रात प्रभु से हमारा सम्पर्क बना रहता है और हम अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं। ९. **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती के लिए जोकि **यशोभगिन्यै**=यश की भगिनी—सेवन करनेवाली है, उस ज्ञानाधिदेवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को समर्पित कर। रात्रि में निरन्तर तेरा प्रभु-स्मरण व प्रभु-सम्पर्क चले तो तेरा दिन ज्ञान की उपासना में बीते। इस प्रकार दिन में तेरे दो ही व्यसन हों—प्रभु-पाद-सेवन तथा सरस्वती का आराधन—**'विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्'।**

भावार्थ—हमारा भोजन उत्तम हो, इच्छाएँ उत्तम हों, हम विषय-बन्धन में न बँधें, द्यूतवृत्ति से ऊपर उठें। रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए सो जाएँ, निद्रा में हम प्रभु का ही स्वप्न लें और हमारा दिन ज्ञान-प्राप्ति में व्यतीत हो। यह ज्ञान हमें यशस्वी बनाये।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु द्वारा अपने मानस पुत्र का किया जानेवाला 'जातकर्मसंस्कार'

वेदो ऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदो ऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः॥ २१॥

१. प्रभु अपने पुत्र से कहते हैं—**वेदः असि**=तू ज्ञानी है। यही सर्वमहान् प्रेरणा है, जो प्रभु के द्वारा जीव को दी जाती है। तुझे संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं करना जो ज्ञानी को शोभा नहीं देता। २. **येन**=क्योंकि **देव**=हे ज्ञान-ज्योति से जगमगानेवाले जीव! **त्वम्**=तू **देवेभ्यः**=विद्वानों से **वेद**=ज्ञान को प्राप्त करता है **तेन**=इसलिए **वेदः**=ज्ञानी **अभवः**=हुआ है। **'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत'**—उठो, जागो, श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो—यह उपनिषदों का उपदेश है। स्वाध्याय-प्रवचन को तुझे कभी नहीं छोड़ना, सब उत्तम कार्यों को करते हुए तुझे इन्हें सदा अपनाये रखना है। स्वाध्याय ही परम तप है। ३. **मह्यम्**=मेरी प्राप्ति के लिए तू **वेद**=ज्ञान का पुञ्ज **भूयाः**=बनना। ज्ञानी बनकर ही तू मुझे प्राप्त करेगा। ४. **देवाः** =ज्ञान-ज्योति से दीप्त होनेवाले ज्ञानी लोग **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले होते हैं। ज्ञानी पुरुष को अपना कर्त्तव्यमार्ग सुस्पष्ट दीखता है। ५. तुम **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुं इत**=मार्ग पर चलनेवाले बनो। मनुष्य मार्ग से विचलित तब हुआ करता है, जब वह अपने मन का पति नहीं होता। अपने मन को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति

कह उठता है—**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः**—मुझे धर्म का ज्ञान तो है, परन्तु मैं उधर चल नहीं पाता। **जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः**=मैं अधर्म को भी जानता हूँ, परन्तु उससे हट नहीं सकता। प्रभु कहते हैं—**मनसस्पते**=हे मन के पति जीव! तू अपने मन को वश में कर और **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बना हुआ तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का लक्ष्य करके **स्वाहा**=आत्मत्याग करनेवाला बन और ७. **वाते**=इस संसार-शकट के चलानेवाले वायु नामक प्रभु में **धाः**=अपने को स्थापित कर (वा गतौ, **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः**) वे प्रभु ही वायु व वात=गति देनेवाले हैं। तू अपने द्वारा किये जानेवाले इन यज्ञों को भी प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होता हुआ समझना। तू अपने यज्ञों को उसी में समर्पित करना।

भावार्थ—तू ज्ञानी बन। मार्ग को जानकर उसी पर चल। मन का पति बनकर यज्ञ के लिए त्याग कर। यज्ञों को उस प्रभु में अर्पित कर।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जीवन का अलङ्करण

सं बर्हिरङ्क्ताꣳहविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः।
समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा॥ २२॥

१. अपने जीवन में काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं का उद्बर्हण (eradication) करनेवाला व्यक्ति 'बर्हिः' कहलाता है। यह **बर्हिः**=अपने जीवन को निर्व्यसन करनेवाला वीर पुरुष **हविषा**=हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा (हु=दान, अदन) अर्थात् त्याग के द्वारा और **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान-दीप्ति से **सं अंक्ताम्**=अपने को सम्यक्तया अलंकृत करे। जीवन के सच्चे आभूषण 'त्याग, निर्मलता व ज्ञान-दीप्ति' ही हैं। २. **आदित्यैः, वसुभिः, मरुद्भिः सं अंक्ताम्**=आदित्यों, वसुओं व मरुतों के साथ सम्पर्क में आकर यह अपने जीवन को सुशोभित करे। सङ्ग का प्रभाव सर्वमान्य है। जैसों का साथ होता है, वैसा ही मनुष्य बन जाता है। ज्ञान का निरन्तर आदान करनेवाले आदित्यों का सम्पर्क हमें ज्ञान की रुचिवाला बनाएगा। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करनेवाले और जीवन में उत्तम निवासवाले वसुओं का सम्पर्क हमें स्वास्थ्य का ध्यान करनेवाला बनाएगा। 'मरुतः प्राणाः'=प्राणों की साधना करनेवाले अथवा 'मितराविणः' कम बोलनेवाले मरुतों का सम्पर्क हमें भी प्राणसाधक व मितभाषी बनाएगा। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष इस इन्द्रियजय के द्वारा **विश्वदेवेभिः**=सब दिव्य गुणों से **सं अंक्ताम्**=अपने जीवन को सुशोभित करे। 'जितेन्द्रियता' साधन है और 'दिव्य गुण-लाभ' उसका साध्य। ४. इस प्रकार पुरुष **दिव्यं नभः**=स्वर्गलोक के आधारभूत आकाश को **गच्छतु**=प्राप्त हो। **'दिवो नाकस्य पृष्ठात्'** इस मन्त्रांश में द्युलोक स्वर्ग का पृष्ठ है। जब मनुष्य सब दिव्य गुणों से अलंकृत होता है—सब देवों का निवास-स्थान बनता है तब उसका अगला जन्म इस मर्त्यलोक में न होकर स्वर्गलोक में होता है। बस, शर्त यह है कि **यत्**=यदि **स्वाहा**=(स्व+हा) उसके जीवन में स्वार्थ-त्याग हो। 'स्व' का—स्वार्थ का छोड़ना दिव्यता प्राप्ति का प्रमुख कारण है। देव का मौलिक गुण ही 'देवो दानात्' दान करना, देना, स्वार्थ को छोड़ना है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को दानपूर्वक अदन, निर्मलता, ज्ञान-दीप्ति, सत्सङ्ग-रुचि व दिव्य गुणों से अलंकृत करके अपने को स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

विमोचन

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वाहा'—स्वार्थत्याग पर थी। इस स्वार्थ की भावना से वस्तुतः वे प्रभु ही मुक्त करते हैं। प्रभु का स्मरण करके—प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़कर मैं स्वार्थ से ऊपर उठता हूँ। प्रभु-स्मरण से मुझमें विश्व-बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—**कः**=वह आनन्दमय प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=स्वार्थ की भावनाओं से छुड़ाते हैं। **सः**=वह प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति** =स्वार्थभावना से मुक्त करते हैं। २. स्वार्थभावना से ऊपर उठने पर मनुष्य का ऐहिक जीवन सुखमय होता है और आमुष्मिक जीवन का कल्याण भी सिद्ध होता है। **कस्मै**=आनन्द की प्राप्ति (कं=सुखम्) के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=वासनाओं से मुक्त करते हैं, **तस्मै**=उस परत्र कल्याण के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=मुक्त करते हैं। ३. इस प्रकार स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठ जाने पर **पोषाय**=तू अपने वास्तविक पोषण में समर्थ होता है। यह स्वार्थ असुरों का मुख्य गुण है। उसे नष्ट करके तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=भगानेवाला (put to flight) **असि**=है, राक्षसी वृत्तियों को तू अपने से दूर कर देता है।

भावार्थ—स्वार्थ-भावना के छूटने पर ही ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण निर्भर करता है। इस स्वार्थ के समाप्त होते ही दिव्य गुणों का पोषण होता है और राक्षसी वृत्तियाँ दूर भागती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अनुमार्जन

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार राक्षसी वृत्तियों को दूर भगाने पर मनुष्य यह प्रार्थना कर सकता है कि हम **वर्चसा**=रोग-कृमियों के साथ सफलता से संघर्ष कर सकनेवाली वर्चस् शक्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। हमारे अन्दर प्राणशक्ति हो। २. **पयसा**=एक-एक अङ्ग की शक्ति के आप्यायन से हम सङ्गत हों (ओप्यायी वृद्धौ)। ३. **तनूभिः**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाले शरीरों से **समगन्महि**=हम युक्त हों, और ४. इन सबसे बढ़कर **शिवेन मनसा**=शिव सङ्कल्पवाले मन से **सम्**=सङ्गत हों। राक्षसी वृत्तियों के दूर करने से प्राणशक्ति की रक्षा होकर सब अङ्गों का आप्यायन होता है, सब अङ्गों का विस्तार होकर शरीर सचमुच 'तनू' इस सार्थक नामवाला होता है और मन शिवसंकल्पों से युक्त हो जाता है। ५. **त्वष्टा**=हम सबके रूपों को सुन्दर बनानेवाला (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु—ऋ १०।१८४।१) देवशिल्पी **सु-द-त्रः**=उत्तमोत्तम साधन व शक्तियाँ प्राप्त कराके हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमें **रायः**=(रा दाने) दान दिये जानेवाले धनों को **विदधातु** =दे। हमें वे धन प्राप्त हों, जिनसे हम 'कु-बेर' (कुत्सित शरीरवाले) न बन जाएँ। हमें वे धन प्राप्त हों जिन्हें प्राप्त करके हम विलासमग्न होकर निधन=मृत्यु की ओर न चले जाएँ। प्रभु सुदत्र हैं, वे निकृष्ट धन क्यों देंगे? ६. वे प्रभु कृपा करके **तन्वः**=हमारे शरीरों की **यत्**=जो भी **विलिष्टम्**=विशेष

अल्पता-न्यूनता है (लिश् अल्पीभावे) उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करें, उसका शोधन कर डालें। न्यूनताओं से दूर होकर हमारे शरीर सुन्दर-ही-सुन्दर हों।

भावार्थ—हम वर्चस्, आप्यायन, शक्ति-विस्तार व शिव मन से सङ्गत हों। धन का दान देनेवाले हों और अपनी न्यूनताओं का शोधन करें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्चीपंक्तिः[उ], आर्चीपंक्तिः[क], भुरिग्जगती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[उ,क], निषादः[र]॥

तीन पग

[उ] दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो[क] ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः [र]पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽअगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम॥ २५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो जीव अपनी न्यूनताओं का शोधन करता हुआ 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की उन्नति को सिद्ध करता है, वह 'विष्णु'—व्यापक उन्नतिवाला कहलाता है। यह **विष्णुः**=उन्नतिशील पुरुष **दिवि**=(मूर्ध्नो द्यौः) मस्तिष्क के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेष पग रखता है, मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है। **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से—अधिक-से-अधिक लोकहित की इच्छा से कर्म करता है। **ततः**=इससे, इस ज्ञान की दीप्ति से, **यः**=जो कोई **अस्मान्**=हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीतिकर समझते हैं, वह व्यक्ति **निर्भक्तः**=दूर भगा दिया जाता है (is put to flight)। इस ज्ञान के कारण ऐसे पुरुष से हम इस प्रकार वर्त्तते हैं कि वह द्वेष करना छोड़ देता है, अथवा उसका द्वेष समाज को उतनी हानि नहीं पहुँचा पाता। २. **विष्णुः**=वह चहुँमुखी उन्नति करनेवाला पुरुष **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेषरूप से पग रखता है। **छन्दसा**=इस इच्छा से कि **त्रैष्टुभेन**= (त्रि+स्तुभ्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोक सके। यह विष्णु प्रयत्न करता है कि इसके हृदय में काम, क्रोध व लोभ का प्रवेश न हो। इन्हें नरक का द्वार जानकर वह इनका अन्त करनेवाला होता है। **ततः**=उस राग-द्वेषातीत हृदय से **निर्भक्तः**=वह व्यक्ति दूर कर दिया जाता है, **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। पवित्र हृदयवाला मनुष्य दूसरे की अपवित्रता को दूर करने में बहुत कुछ समर्थ होता है। **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**—इस योगदर्शन के सूत्र में यही कहा है कि मेरे हृदय में अहिंसा प्रतिष्ठित होगी तो मेरे समीप दूसरा व्यक्ति भी अपने वैर को समाप्त कर देगा। ३. अब यह **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिशील पुरुष **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेषरूप से पग रखता है जिससे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति की सम्यक् रक्षा कर सके। शरीर को स्वस्थ व सबल रखना ही अन्य सब उन्नतियों का मूल है, अतः इस विषय में विशेष प्रयत्न अपेक्षित है। **ततः**=इसी उद्देश्य से **निर्भक्तः**=उस व्यक्ति को हम अलग रखते हैं, **यः**= जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। द्वेष शरीर के स्वास्थ्य पर बड़ा घातक प्रभाव डालता है, अतः इससे बचना आवश्यक है। ४. 'समाज-द्वेषी से कैसे वर्त्ता जाए'—इसका उत्तर यहाँ इस प्रकार दिया गया है कि यह

अस्मात् अन्नात्=इस अन्न से **निर्भक्तः**=अलग किया जाए। समाज में कभी-कभी मिलकर जो प्रीतिभोज (feasts) चलते हैं, उनमें इसे आमन्त्रित न किया जाए। आजकल की भाषा में उसका 'हुक्का-पानी' बन्द कर दिया जाए। उसका यह सामाजिक बहिष्कार उसके जीवन के सुधार के लिए एक सत्याग्रह के समान है। इसका उसपर कोई प्रभाव न पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। **अस्यै प्रतिष्ठायाः**=उसे प्रतिष्ठा के पदों से अलग कर दिया जाए। समाज के सङ्गठनों में उसे प्रमुख स्थान न दिये जाएँ। इस प्रकार उसपर सामाजिक दबाव डालकर उसकी वृत्ति को सुधारने का यत्न किया जाए। ५. उल्लिखित प्रकार से जीवन बिताने पर हम **स्वः**=स्वर्ग को **अगन्म**=प्राप्त होंगे और **ज्योतिषा सम् अभूम**=सदा अपनी ज्ञान-ज्योति के साथ होनेवाले होंगे, अर्थात् हमारा जीवन प्रकाशमय होगा, यह शुक्ल-मार्ग से चलता रहेगा।

भावार्थ—हम 'मस्तिष्क, मन व शरीर' की त्रिविध उन्नति करके 'विष्णु' कहलाएँ तथा द्वेष से दूर रहकर अपने जीवन को सुखी व प्रकाशमय बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

'विष्णु' की प्रार्थना व आराधना

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २६॥

गत मन्त्र का विष्णु प्रभु का आराधन निम्न शब्दों में करता है—१. **स्वयम्भूः असि**=आप स्वयं होनेवाले हो। 'आप किसी और पर आश्रित हों'—ऐसी बात नहीं है। आप आत्म-निर्भर हैं। आपकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, तभी तो आप **श्रेष्ठः**=श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से परमेष्ठी=परम स्थान में स्थित हैं। मैं भी आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करूँ। २. आप ज्ञान-किरणों के पुञ्ज हो अथवा आप इस सारे ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाले हो (रश्मि=लगाम)। मैं भी आपका उपासक बनकर **रश्मिः**=ज्ञान-किरणोंवाला बनूँ, अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रणवाला होऊँ। मनरूप लगाम को काबू करके मैं अपने जीवन को बड़ा संयत बना पाऊँ। ३. **वर्चोदा असि**=हे प्रभो! आप अपने उपासकों को वर्चस् देनेवाले हैं, **मे**=मुझे भी **वर्चः**=शक्ति **देहि**=दीजिए। वस्तुतः 'संयत जीवन' का ही परिणाम 'शक्ति की प्राप्ति' है। जैसे आत्म-निर्भरता—बाह्य वस्तुओं पर निर्भर न रहना 'श्रेष्ठता' का साधन है (स्वयम्भू=श्रेष्ठ), उसी प्रकार ज्ञान व संयत जीवन 'वर्चस्' के उपाय हैं। ४. इस वर्चस् की प्राप्ति के लिए मैं **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम् अनु**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम का आवर्तन करता हूँ। जैसे सूर्य अपनी क्रियाओं में बड़ा नियमित है, उसी प्रकार मेरा कार्यक्रम भी सूर्य की भाँति चलता है। यह प्रकाशमय नियमित जीवन ही सम्पूर्ण शक्ति का कारण है।

भावार्थ—हम आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनें, नियमित जीवनवाले होकर शक्तिशाली हों और सूर्य की भाँति अपनी क्रियाओं में लगे रहें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पंक्तिः[क], गायत्री[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः[क] षड्जः[ख]॥

सु-गृहपतिः

[क]अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। [ख]अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳहिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार (क) जब हमारी आवश्कताएँ कम होंगी,

(ख) हम प्रकाशमय नियमित जीवनवाले होंगे, (ग) सशक्त होंगे (घ) सूर्य की भाँति दैनिक आवर्तन को पूरा करेंगे तब हम प्रस्तुत मन्त्र के 'सु-गृहपति' बन जाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो ! **गृहपते**=हमारे घरों के रक्षक! **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **त्वया सुगृहपतिना**=सुगृहपति आपके साथ सदा अपना सम्पर्क रखता हुआ मैं **सु-गृहपतिः**=उत्तम गृहपति **भूयासम्**=बन जाऊँ। आपकी आँख से ओझल न होने पर मैं कभी-मार्ग-भ्रष्ट न होऊँगा। अपने गृहस्थ के कर्त्तव्यों को, आपसे शक्ति प्राप्त करके मैं उत्तमता से निभानेवाला बनूँगा। ३. **अग्ने**=उन्नतिसाधक प्रभो ! **मया गृहपतिना**=मुझ गृहपति से **त्वम्** =आप **सुगृहपतिः**=उत्तम गृहपतिवाले **भूयाः**=होओ। जैसे अच्छे शिष्यों से आचार्य 'उत्तम शिष्योंवाला' कहलाता है, इसी प्रकार मुझ आपके उपासक के द्वारा आप 'उत्तम गृहपति' कहे जाएँ। मैं आपको यशस्वी व स्तुत्य करने के लिए 'सुगृहपति' बनूँ।

४. हे प्रभोः! पति-पत्नी हम दोनों के **गार्हपत्यानि**=गृहपति के कर्त्तव्य **अस्थूरि सन्तु**=एक बैलवाली गाड़ी के समान न हो जाएँ। (स्थूरि=जिसका एक बैल रह गया हो ऐसी गाड़ी), अर्थात् अपने इस गृहस्थ-शकट को हम दोनों पति-पत्नी मिलकर बड़ी अच्छी प्रकार वहन करनेवाले बनें। हमारा साथ बना रहे—अपमृत्यु से हममें से किसी एक को ही यह गाड़ी न खेंचनी पड़े। ५. मैं **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम्**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम के आवर्तन को चलानेवाला बनूँ। वस्तुतः यह 'नियमित आवर्तन' ही सुगृहपति बनने का सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ—प्रभु को कभी न भुलाता हुआ मनुष्य सुगृहपति बने, पति-पत्नी मिलकर गृहस्थ की गाड़ी को खेंचनेवाले और सदा सूर्य की भाँति नियमित जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

जो वस्तुतः हूँ, वही हूँ,—'पूर्ण स्वस्थ'

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि॥ २८॥

सदा सूर्य की भाँति नियमित रूप से चलने का व्रत पिछले मन्त्र में लिया गया है। 'उसी व्रत को मैंने यथाशक्ति पाला है' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **व्रतपते**=हमारे व्रतों के रक्षक हे प्रभो! **व्रतम्**=व्रत का **अचारिषम्**=मैंने आचरण किया है, **तत् अशकम्**=उस व्रत के पालन में मैं समर्थ हुआ हूँ। **तत् मे**=वह मेरा व्रत **अराधि**=सिद्ध हुआ है। प्रथम अध्याय के पाँचवे मन्त्र में मैंने निश्चय किया था कि (चरिष्यामि) मैं व्रत का पालन करूँगा और आपकी कृपा से (शकेयम्) उस व्रत का पालन कर सकूँ। आज इस द्वितीय अध्याय के अठाइसवें मन्त्र तक पहुँचकर मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने उस व्रत का बहुत कुछ पालन किया है, उसे पूर्ण करने में आपकी कृपा से मैं बहुत कुछ समर्थ हुआ हूँ, वह मेरा व्रत सिद्ध हुआ है। २. और इसका परिणाम है कि **इदम् अहम्**=यह मैं स्त्री वा पुरुष जो भी हूँ **यः एव अस्मि**=जो कुछ मैं वास्तव में हूँ, **'सः अस्मि'**=मैं वही हूँ, अर्थात् अब मैं भूल से इस पञ्चभौतिक शरीर में 'मैं' बुद्धि नहीं करता। इससे मैं ऊपर उठ गया हूँ। अब मैं आत्मा को पहचानने लगा हूँ। ३. मन्त्र छब्बीस में 'रश्मि'=लगाम का उल्लेख था। यह लगाम ही **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** है। इस चित्त निरोध से मैं स्वरूप में स्थित हो गया हूँ और जो वस्तुतः हूँ, वही हो गया हूँ।

भावार्थ—हम व्रत का पालन करें और जो हैं, वही हो जाएँ। अपने आत्म-स्वरूप

को पहचानें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षी अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पितृयज्ञ

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा।
अपहताऽअसुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः॥ २९॥

१. राक्षसी वृत्तियों का उद्गम—प्रारम्भ कहाँ से है? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि कोई युवक व युवति जब अपने माता-पिता की सेवा में न लगकर अपना आराम देखने लगते हैं तब इस आसुरी वृत्ति का आरम्भ होता है। 'माता-पिता को जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं और ये युवक दम्पती सिनेमा जा रहे हैं' इस रूप में इस आसुरी वृत्ति का तमाशा होने लगता है। माता-पिता मर रहे हैं, उनका औषधोपचार भी ठीक नहीं हो रहा और ये युवक-युवति फ्रूट-क्रीम का आनन्द ले रहे हैं। यह राक्षसी वृत्ति का खुला नाच होने लगता है। इनके लिए किसी भी मुख से शुभ शब्द कैसे उच्चरित हो सकते हैं? अतः मन्त्र में कहते हैं कि—२. **अग्नये**=प्रगतिशील दम्पती के लिए **कव्यवाहनाय**=माता-पिता को अन्न प्राप्त करानेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इनके लिए माता-पिता के मुख से शुभ शब्दों का ही प्रकाश होता है, लोग भी इनकी प्रशंसा करते हैं। **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले नम्र युवक के लिए **पितृमते**=उत्तम माता-पितावाले के लिए—जिसके माता-पिता सुखपूर्वक हैं, उस युवक के लिए **स्वाहा**=शुभ शब्दों का उच्चारण होता है।

देवों के लिए दिया जानेवाला अन्न 'हव्य' कहलाता है और पितरों के लिए दिया जानेवाला 'कव्य'। जो नवदम्पती अपने वृद्ध माता-पिता को खिलाकर स्वयं खाते हैं, उनकी संसार में कीर्ति होती है। जो माता-पिता के प्रति सदा नम्र होते हैं और माता-पिता को सुखमय स्थिति में रखते हैं, वे ही प्रशंसनीय होते हैं।

यह पृथिवी 'वेदि' है। अध्यात्म में यह शरीर वेदि है। यज्ञवेदि में आसीन होनेवाले की—यज्ञशील की **वेदिषदः**=इस शरीर में आ जानेवाली **असुराः**=आसुरी वृत्तियाँ और **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए माता-पिता का भी क्षय करनेवाली वृत्तियाँ **अपहताः**=सुदूर नष्ट कर दी गई हैं। माता-पितारूप देवों का पूजन करनेवाला, उनके प्रति विनीत व्यवहार करनेवाला ही प्रशंसनीय होता है और उसी के जीवन में अशुभ वृत्तियों का उदय नहीं होता।

भावार्थ—हम वृद्ध माता-पिता को श्रद्धापूर्वक खिलाकर भोजन करें—यही उन्नति का मार्ग है। हम माता-पिता के प्रति विनीत हों। उनकी स्थिति को सदा उत्तम बनाने का प्रयत्न करें, तभी हम लोक में प्रशंसनीय होंगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आसुर जीवन

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥ ३०॥

'गत मन्त्र' में वर्णित पितृयज्ञ को जो युवक अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देते

उनका जीवन क्या विचित्र बन जाता है'—यह वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है—

१. **ये**=जो **रूपाणि**=सुन्दर आकृतियों को **प्रतिमुञ्चमानाः**=धारण करते हुए, अर्थात् सुन्दर वेष-भूषाओं में अपने को सजाते हुए **चरन्ति**=सर्वत्र विचरते हैं (बाज़ारों, क्लबों और सिनेमागृहों में घूमते हैं)। २. **असुराः सन्तः**=(असुषु रमन्ते) जो अपने ही प्राणों में रमण करते हुए; जीवन का आनन्द लूटते हुए **चरन्ति** =मौज से घूमते हैं, अपने आदरणीय पुरुषों के आराम का तनिक भी ध्यान नहीं करते ३. जो **स्वधया** =(स्वधा=अन्न) अन्न के हेतु से ही **चरन्ति**=अपने इस जीवन में चलते हैं, अर्थात् उनका जीवनोद्देश्य 'खाना-पीना' ही रह जाता है। वे खाने-पीने के लिए ही जीते हैं। ४. **परापुरः**=(परागतानि स्वसुखार्थानि अधर्मकार्याणि पिपुरति—द०) संसार से उलटे, अर्थात् लोक-विद्विष्ट अपने ही सुखकारी अधर्मकार्यों को सिद्ध करते हैं। **निपुरः**=(निकृष्टान् दुष्टस्वभावान् पिपुरति) दुष्ट-स्वभावों को परिपूर्ण करनेवाले **ये**=जो लोग **भरन्ति**=अन्याय से औरों के पदार्थों को धारण करते हैं (अन्यायेनार्थसंचयान्—गीता)। ५. **अग्निः**=वह संसार का सञ्चालक प्रभु **तान्**=उल्लिखित वृत्तिवाले असुर लोगों को **अस्मात्**=इस **लोकात्**=लोक से **प्रणुदाति**=दूर करता है।

आसुर वृत्तिवाले लोग समाज के लिए बड़े अवाञ्छनीय होते हैं। राजा को चाहिए कि ऐसे लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दे। या मनुष्य प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभो! इनको आप अपने पास ही बुला लीजिए, इनसे हमारा पीछा छुड़ाइए।

भावार्थ—आसुर जीवन के लक्षण हैं—१. छैल-छबीले बनकर घूमना (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः), २. अपनी ही मौज को महत्त्व देना (असुरः), ३. जीवन का उद्देश्य भोग समझना (स्वधया), ४. पराये माल से अपने को पुर करना (परापुरः), ५. निकृष्ट साधनों से अपने खजाने को भरना (निपुरः)। हम ऐसे बनकर प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मादयध्वं, आवृषायध्वम्

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत॥ ३१॥

जो युवक व युवति आसुर वृत्ति के नहीं होते वे अपने माता-पिता से यही प्रार्थना करते हैं कि **पितरः**=उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरो! **अत्र**=आप यहाँ ही—घर में ही **मादयध्वम्**=हर्षपूर्वक निवास करो। **गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः**=घर में रहते हुए भी पाँचों इन्द्रियों का निग्रहरूप तप किया जा सकता है, उसके लिए वनस्थ होने की क्या आवश्यकता? घर की सब उलझनों को हमारे कन्धों पर डालकर आप यहाँ अपने जीवन को आनन्दयुक्त कीजिए। प्रभु-भजन की मस्ती का आनन्द आप यहाँ भी ले-सकते हैं। यहाँ रहते हुए आप **यथाभागम्**=भाग के अनुसार, अर्थात् समय-समय पर सेवन के योग्य **आवृषायध्वम्**=विद्या और धर्म की शिक्षा की वर्षा करनेवाले होओ। आज से पहले भी **पितरः**=पितर लोग **अमीमदन्त**=घर पर ही आनन्द से रहनेवाले हुए हैं और उन्होंने **यथाभागम्**=यथासमय **आवृषायिषत**=स्थूल व सूक्ष्म विद्या तथा धर्म के उपदेश की वर्षा की है—धर्मज्ञान से हम सन्तानों को सिक्त किया है। हम किसी अभूतपूर्व बात के लिए आपसे प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। आपके ज्ञानोपदेश से हमारा मार्ग भी सदा प्रकाशमय बना रहेगा।

भावार्थ—'हे मान्या माता व पिताजी! आप घर पर ही सानन्द रहिए व समय-समय

पर हमें सुसम्मति देते रहिए' यह है पितृभक्त सन्तानों की प्रार्थना। ऐसी सन्तान ही सच्चा पितृयज्ञ करनेवाली होती है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती [क], निचृद्बृहती [ख]। **स्वरः**—मध्यमः॥

आचार्य

[क]नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे [ख]नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः॥ ३२॥

ज्ञान-प्रदाता आचार्य भी पिता है। जिस प्रकार छह ऋतुओं का क्रम चलता है और उनमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं या गुणों का प्राधान्य होता है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी में उन गुणों को पैदा करने का प्रयत्न करता है। १. इनमें सर्वप्रथम वसन्त है जिसमें सब फूल व फलों में रस का सञ्चार होता है। आचार्य भी विद्यार्थी के जीवन में 'अप+ज्योति' अर्थात् जल व अग्नितत्त्व का समन्वय करके—शान्ति तथा शक्ति उत्पन्न करके रस का सञ्चार करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपके **रसाय** =इस 'रस' के लिए **नमः**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। २. वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आती है। इसका मुख्य गुण 'शोषण' है, यह सबको सुखा देती है। संस्कृत में शत्रुओं के शोषक बल को कहते ही 'शुष्म' हैं। आचार्य विद्यार्थी में भी इस काम-क्रोध आदि के शोषक बल को उत्पन्न करता है और विद्यार्थी कहता है—**पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=तुम्हारे **शोषाय**=इस शत्रु-शोषक बल के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। ३. अब वर्षा ऋतु का प्रारम्भ होता है। इसमें ग्रीष्म से सन्तप्त प्राणी फिर से जीवित हो उठते हैं, अतः जीवन-तत्त्व को देनेवाली इस वर्षा ऋतु के समान हे **पितरः**=आचार्यो! आपके इस **जीवाय**=जीवन तत्त्व के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। ४. अब अन्नों से परिपूर्ण शरद् ऋतु आती है। अन्न को स्वधा कहते हैं। **'स्वधा वै शरत्'** इन शब्दों में शरत् को भी स्वधा कहा है। इस अन्न से 'स्व'=अपने को 'धा'=धारण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। आचार्य भी विद्यार्थी में इस स्वधा=स्वधारण-शक्ति को उत्पन्न करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपकी **स्वधायै**=इस स्वधारण-शक्ति के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ५. शरद् के पश्चात् शीत के प्राचुर्यवाली विषम व घोर हेमन्त ऋतु आती है। आचार्य भी विद्यार्थी को शत्रुओं के लिए 'घोर' बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं—**पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपकी इस **घोराय** =शत्रु-भयंकरता के लिए **नमः**=नमस्कार है। ६. अन्त में शिशिर ऋतु आती है। यह शीत की मन्दता तथा उष्णता के अभाव के कारण ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनुकूल है। आचार्य भी विद्यार्थी को अनुकूल वातावरण पैदा करके खूब ज्ञानी बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपके **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **नमः**=हम विनीतता से आपके समीप उपस्थित होते हैं। **नमो वः पितरः**=हे आचार्यो ! आपके लिए नमन है, **पितरः नमः वः**=हे आचार्यो! फिर भी आपके लिए नमन है। **पितरः**=हे आचार्यो ! आप **नः**=हमें **गृहान्**=घरों को **दत्त**=दीजिए।

प्राचीन काल में आचार्य ही छात्र व छात्राओं को उचित प्रकार से शिक्षित करके, उनके गुण-कर्म-स्वभाव से खूब परिचित होने के कारण उनके सम्बन्धों को निर्धारित करके उनके माता-पिता के अनुमोदन से उन्हें गृहस्थ बना दिया करते थे। आचार्यों द्वारा

किये गये ये सम्बन्ध प्रायेण अनुकूल ही प्रमाणित हुआ करते थे। ८. हम भी **पितरः**=हे आचार्यो! **सतः वः**=विद्यमान आपको **देष्म**=सदा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते रहें ('सतः' यह द्वितीया का प्रयोग चतुर्थी के लिए है)। **सतः**=विद्यमान आपके लिए, नकि आपके चले जाने के बाद। यहाँ जीवित श्राद्ध का संकेत स्पष्ट है। ९. **पितरः**=हे आचार्यो! **एतत् वासः**=यह निवास-स्थान व वस्त्र आदि **वः**=आपका ही तो है। आपने ही इसके अर्जन की शक्ति हमें प्राप्त कराई है। आपने ही हमें इनके निर्माण के योग्य बनाया है। (निवास अर्थ में 'वासः' का प्रयोग कम मिलता है, परन्तु धात्वीय अर्थ के विचार से वह ठीक ही है। घर भी हमारा आच्छादन करता है, सर्दी-गर्मी व ओलों से हमें बचाता है)।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी के जीवन में 'रस, शत्रु-शोषकशक्ति, जीवनतत्त्व, स्वधारण-शक्ति, शत्रु के प्रति भयंकरता व ज्ञान' को उत्पन्न करे और तत्पश्चात् उसके उचित जीवन-सखा को ढूँढने में सहायक हो। विद्यार्थी भी सदा आचार्य के प्रति विनीत बनें और गुरुदक्षिणा के रूप में आजीवन उन्हें कुछ-न-कुछ देते रहें। ये न भूलें कि आचार्य ने ही उन्हें घर-निर्माण के योग्य बनाया है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

कुमार पुष्करस्रक्

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ ३३॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यों से प्रभु कहते हैं—**पितरः**=ज्ञान-प्रदाता आचार्यो! **गर्भं आधत्त**=विद्यार्थी को अपने गर्भ में धारण करो। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में यही भावना इन शब्दों में कही गई है कि **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'**—आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप लाता हुआ उसे गर्भ में धारण करता है। जैसे माता गर्भस्थ बालक की सुरक्षा करती है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी को गर्भस्थ बालक की भाँति ही संसार के अवाञ्छनीय वातावरण से बचाने का प्रयत्न करता है। २. इसे **कुमारम्**=(कु+मारम्) सब बुराइयों को मारनेवाला, राग-द्वेष आदि सब मलों को दूर भगानेवाला **आधत्त**=(सम्पादयत) बनाना है। ३. **पुष्कर-स्रजम्**=(पुष्कर=सूर्य, सृज्=उत्पन्न करना) इसे अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदय करनेवाला **आधत्त**=बनाइए।

आचार्य ने विद्यार्थी को हृदय के दृष्टिकोण से कुमार=सब बुराइयों को मार भगानेवाला बनाना है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पुष्करस्रज्=ज्ञान-सूर्य का उदय करनेवाला बनाना है। ४. इसे 'कुमार व पुष्करस्रज्' इसलिए बनाओ **यथा**=जिससे यह **इह**= मानव-जीवन में **पुरुषः**=पौरुष करनेवाला **असत्**=हो। 'कु-मारता' के अभाव में मन में विलास की वृत्तियाँ जागती हैं और मनुष्य पौरुष से बचना चाहता है तथा आराम पसन्द हो जाता है। 'पुष्कर-स्रक्त्व' न होने पर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पशुओं-जैसी हो जाती हैं और वह 'मनुष्य' न रहकर 'पशु' ही बन जाता है। पुरुष के दो मुख्य गुण हैं 'कु-मारत्व और पुष्कर-स्रक्त्व'—हृदय का नैर्मल्य और मस्तिष्क की दीप्ति। इन दोनों गुणों को उत्पन्न करके आचार्य विद्यार्थी को दूसरा जन्म देता है और विद्यार्थी द्विज बनता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को गर्भ में धारण करे। उसे पवित्र हृदय व उज्ज्वल मस्तिष्क बनाने का प्रयत्न करे, जिससे वह राष्ट्र में एक उत्तम नागरिक बने।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

गुरु-दक्षिणा

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ ३४॥

'आचार्य विद्यार्थी को कैसा बनाये' यह गत मन्त्र में वर्णित है। प्रस्तुत मन्त्र में विद्यार्थी गुरु-दक्षिणा में क्या दे—यह कहते हैं। 'आचार्यकुल में खान-पान की कभी कमी न हो' इस बात का ध्यान आचार्य से अध्यापित विद्यार्थियों को ही करना है। विद्यार्थी को यह ध्यान रहे कि **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को तथा **अमृतम्**=रोग आदि से अपमृत्यु के अभावरूप अमरत्व को **वहन्तीः**=प्राप्त कराती हुई जो **स्वधाः**=स्वधाएँ अर्थात् अन्न **स्थ**=हैं, वे **मे**=मेरे **पितॄन्**=आचार्यों को **तर्पयत**=सदा तृप्त करें, अर्थात् आचार्यकुल में बल, प्राणशक्ति व नीरोगता देनेवाले अन्नों की कभी कमी न हो। वे अन्न निम्न हैं—(क) **घृतम्**=घी। सामान्यतः 'घृतम्' का अभिप्राय गोघृत से ही होता है। यह प्राणियों के आयुष्य को बढ़ानेवाला है, इसलिए 'घृतमायुः' घी तो आयु ही है, यह बात प्रसिद्ध है। यह मलों का क्षरण करके बल की दीप्ति प्राप्त कराता है। (ख) **पयः**=दूध। यह हमारे सब अङ्गों का आप्यायन करनेषाला है। ताज़ा दूध तो 'पीयूषम्' अमृत ही कहा गया है। (ग) **कीलालम्**=अन्न। कील का अर्थ है बन्धन और 'अल' वारण=बाधक है। यह अन्न वृद्धि के प्रतिबन्धनभूत सब तत्त्वों का निवर्तक है (सर्वबन्धनिवर्तकम्—महीधर)। (घ) **परिस्रुतम्**=फलों के निचोड़ने से टपका हुआ रस। यह तो वस्तुतः शरीर में जीवन-रस ही सञ्चार कर देता है। इस प्रकार मुख्य स्वधा=अन्न ये चार ही हैं—'घी, दूध, अन्न और रस'। मनुष्य को चाहिए कि इनका प्रयोग करे और अपने जीवन में 'बल, प्राण व अमरत्व' को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—गुरु-दक्षिणा यही है कि उस-उस शिक्षाणालय के विद्यार्थी आचार्यकुलों में जीवन के आधारभूत पदार्थों—'घी, दूध, अन्न व रस' की कमी न होने दें। यही पितृश्राद्ध भी है।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥